भूमिका।

"श्रीहनुमन्नाटक" किस समय रचागया, इस बातका पूरा २ पता लगना जरा कठिन है क्योंकि—आजतक संस्कृत इतिहासकी खोज करनेवाले जिन २ महानुभावोंने अन्यान्य प्रसिद्ध महाकाव्योंके रचयिताओंके समयआदिका पता लगानेमें परम परिश्रम किया है. उनमेंसे किसीके रचनाकालका साक्षात् पता लगाया है और किन्हीके समयआदिका अनुमान किया है; परन्तु उन विज्ञोंमेंसे किसीने भी इस **'महानाटक'** के विषयमें आजतक साक्षात् रूपसे वा अनुमान करके इसके समयादिका कुछ उल्लेख नहीं किया। इससे अनुमान होता है कि, अभीतक इसके रचनाकालका निश्चय होनेकी कोई सामग्री प्राप्त नहीं हुई है। इसके अन्तिम अंकमें इतना लिखा है कि—

"रचितमनिलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाऽब्धौ
निहितममृतबुद्ध्या प्राङ् महानाटकं यत्।
सुमतिनृपतिभोजेनोद्धृतं तत्क्रमेण
ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रदामोदरेण॥"

अर्थात्—इसको पवनकुमारने रचा और शिलाओंपर लिखा था, परन्तु जब वाल्मीकिजीने अपनी रामायण रची तब यह समझकर कि—इस अमृतके सामने मेरी रचनाको कौन पढैगा, श्रीहनुमान्‌जीसे प्रार्थना करके उनकी आज्ञासे इस महानाटकको समुद्रमें स्थापित करादिया, परन्तु विद्वानोंसे किम्वदन्ती को सुनकर परमसुबुद्धि राजा भोजने इसको समुद्रमेंसे निकलवाया और जो कुछ मिला उसको उनकी सभाके विद्वान् दामोदरमिश्रने सङ्गतिपूर्वक संगृहीत किया। अत एव

यह पुस्तक जहाँ तहाँ अपूर्ण प्रतीत होता है, जो कुछ भी, हो ऐसा कोई ही हृदयहीन होगा जो इसकी भक्तिभरी हृदयग्राहिणी रचना सुनकर आनन्दमग्न न होता हो, इसीकारण बंबईस्थ "श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम्-मुद्रणालयाध्यक्ष परम वैष्णव श्रीयुत सेठ **खेमराज श्रीकृष्णदास**जीने सकल रामभक्तोंके मनोविनोदार्थ इसका **भाषानुवाद** करनेके लिये मुझे सूचित किया । तदनुसार मैंने इस रामचरितमय **"महानाटक"** का भाषानुवाद किया है, आशा है रामभक्त इसको अपनाकर मुझको तथा उक्त सेठजीको सफलश्रम और कृतार्थ करेंगे यह रामचरित, योग्यपात्र श्रीयुत उक्त सेठ **खेमराज**जीको ही सकल अधिकारोंके साथ समर्पण करके मैं इस भूमिकाको समाप्त करता हूँ ।

रामभक्तोंका प्रेमाभिलाषी—

ऋ० कु० रामस्वरूप शर्मा,

सम्पादक-"सनातन धर्मपताका"

मुरादाबाद ।
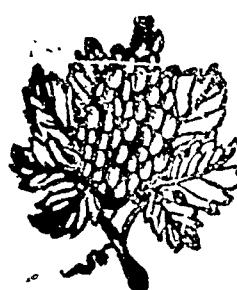
॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ श्रीहनुमन्नाटक।

भाषाटीकासमेत।

प्रथम अङ्क।

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ॥
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥ १ ॥

दोहा–जय गणेश मङ्गलकरण, चरण शरण रखवार।
विघ्न हरण करि कीजिये, पूरण प्रण भुज चार॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी गुणावलीको वर्णन करनेके अभिलाषी ग्रन्थकार अपने इष्टदेवका नामस्मरणरूप मङ्गलाचरण करते हैं जिसमें सकल कल्याण भरे हैं, जो कलियुगमें स्मरण करनेवालोंके सकल पापोंको हरलेता है, जो एकही वाल्मीकि आदि कविवरोंकी वाणियोंके विश्राम पानेका स्थान है, जो त्रिलोकीको पवित्र करने वालोंको भी पवित्र करनेवाला है, जो शीघ्रही परब्रह्ममें स्थानको (परम पदको) पानेके लिये प्रस्थान करनेवाले (उद्योग करनेवाले) मुमुक्षु पुरुषको मार्गका सहारा है (अर्थात् मोक्षको चाहनेवाले पुरुष साधनके समयमें जिस रामनामके सहारेसे अनायाससेही परमपदको पा जाते हैं) और जो धर्मरूपी वृक्षका बीज है (अर्थात् जैसे किसी वृक्षके बीजमें उसके पुष्प फल आदि सब विद्यमान होते हैं तैसेही इस धर्मरूपी वृक्षके बीजरूप रामनाममें धर्मके सब अङ्ग विद्यमान हैं, क्योंकि रामनामका

कीर्तन करनेसे चित्तकी शुद्धि होनेपर मनुष्यसे सकल धर्माचरण बन पडते हैं) ऐसा सज्जनोंका जीवनधन रामनाम आपको इस लोक और परलोककी सम्पत्ति देनेवाला हो ॥ १ ॥

पातु श्रीस्तनपत्रभङ्गमकरीमुद्राङ्कितोरःस्थलो
देवः सर्वजगत्पतिर्मधुवधूवक्त्राब्जचन्द्रोदयः।
क्रीडाक्रोडतनोर्नवेन्दुविशदे दंष्ट्रांकुरे यस्य भू-
र्भाति स्म प्रलयाब्धिपल्वलतलोत्खातैकमुस्ताकृतिः ॥ २ ॥

जिनके वक्षस्थलपर लक्ष्मीजीके स्तनोंपरकी पत्ररचनाकी मकरीमुद्राका चिह्न है, जो विष्णुरूपसे सब जगत्का पालन करते हैं, जो मधुदैत्यकी स्त्रियोंके मुखकमलों को चन्द्रमाकी समान बने थे (अर्थात् जिन्होंने संसारको त्रास देनेवाले मधुदैत्यका संहार करके उसकी स्त्रियोंके मुखोंको कान्तिहीन कर दिया था) भक्तोंकी रक्षा और दुष्टोंका संहाररूप क्रीडाके लिये वराहरूप धारण करनेवाले, जिनकी द्वितीयाके चन्द्रमाकी समान स्वच्छ दाढकी नोंकपर पृथ्वी, प्रलयकालके समुद्ररूप छोटेसे सरोवरमेंसे उखाडे हुए मोथेकी समान शोभाको प्राप्त हुई थी, वह भक्तोंके निमित्त अवतार धारणरूप क्रीडासे प्रेम रखनेवाले श्रीरामचन्द्रजी आपकी रक्षा करें ॥ २ ॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥ ३ ॥

शिवजीके भक्त जिनको **शिव** इस नामसे, वेदान्त शास्त्रके अभ्यासी जिनको द्वितीय **ब्रह्म** मानकर, बौद्धमतके अनुयायी पुरुष जिनको **बुद्ध** इस नामसे, प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंका प्रयोग करनेमें प्रवीण न्यायशास्त्रको जाननेवाले जिनको जगत्का **कर्त्ता** मानकर, जैनमतकी आज्ञाका पालन करनेके प्रेमी जिनको **अर्हन्** रूपमें, और पूर्वमीमांसाको जाननेवाले जिनको फल देनेमें स्वतन्त्र कर्मस्वरूप

मानकर उपासना करते हैं, ऐसे भक्तोंके ऊपर प्रेमभाव रखकर उनके दुःखोंको दूर करनेवाले त्रिलोकीके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी आपको वांछित फल दें ॥ ३ ॥

तं रामं रावणारिं दशरथतनयं लक्ष्मणाग्र्यं गुणाढ्यं
पूज्यं प्राज्यं प्रतापावलयितजलधिं सर्वसौभाग्यसिद्धिम् ।
विद्यानन्दैककन्दं कलिमलपटलध्वंसिनं सौम्यदेवं
सर्वात्मानं नमामि त्रिभुवनशरणं प्रत्यहं निष्कलङ्कम् ॥४॥

उन रावणका नाश करनेवाले, दशरथकुमार, लक्ष्मणजीके जेठे भ्राता, सकल गुणोंके धनी, पूजनीय, सबसे श्रेष्ठ समुद्रके चारों ओर प्रतापका चक्र बनानेवाले सकल शुभकार्य्योंमें सिद्धिस्वरूप (अर्थात् जिनके सच्चे स्मरणसे सकल शुभ कार्य सिद्ध होते हैं अज्ञान और आनन्दके अद्वितीय कन्दस्वरूप (स्मरण करनेपर) कलिकालके सकल मलोंका नाश करनेवाले सौम्य और दिव्यमूर्ति सर्वव्यापी त्रिलोकीके रक्षक मायाके लेशसे शून्य श्रीरामचन्द्रजीको मैं प्रतिदिन प्रणाम करताहूँ ॥४॥

अथोपक्रमः ।

आसीदुद्भटभूपतिप्रतिभटप्रोन्माथिविक्रान्तिको
भूपः पंक्तिरथो विभावसुकुलप्रख्यातकेतुर्बली ।
उर्वीबर्वरभूरिभारहरणे भूरिश्रवाः पुत्रतां
यस्यार स्वमथो विधाय महितः पूर्णश्चतुर्धा विभुः ॥ ५ ॥

अब कथा की शृङ्खला बांधते हैं जिनका पराक्रम अपने प्रतिपक्षी बड़े २ वीर राजाओं को नीचा दिखानेवाला है सूर्यवंश की प्रसिद्ध पताका रूप, दशरथ नामवाला एक बली राजा था, जिस के यहाँ पुत्ररूप से प्रकट होने के लिये प्रार्थना किये हुए, पूर्णस्वरूप, सर्वव्यापक, पूजनीय, परमकीर्तिवाले, साक्षात् श्रीनारायण, पृथ्वी पर के राक्षसों का बड़ा भारी भार हरने के लिये, अपने मूलस्वरूप के ही राम–लक्ष्मण–भरत–शत्रुघ्न रूप चार विग्रह करके पुत्रभाव को प्राप्त हुए ॥ ५ ॥

तेषामीश्वरतागुणैश्च जनुषा ज्यायानभूद्राघवो
रामः सोऽप्यथ कौशिकेन मुनिना रक्षोभयाद्याचितः ।
राजानं स यशोधनो नरपतिः प्रादात्सुतं दुःखित-
स्तस्मै सोऽपि तमन्वगादनुगतः सौमित्रिणोच्चैर्मुदा ॥ ६ ॥

उन चारों पुत्रों में रघुकुल को प्रसिद्ध करनेवाले श्रीरामचन्द्र जी, सब से प्रथम जन्म होने और ईश्वरता को सिद्ध करनेवाले गुणों के कारण ज्येष्ठ थे, और उन श्रीरामचन्द्र जी को राक्षसों के भय से (व्याकुल हुए) विश्वामित्र मुनि ने राजा दशरथ से माँगलिया; वह राजा दशरथ भी अपना परमधन यश को समझते थे (और मुनि के साथ प्रिय पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को नहीं भेजते तो अतिथि के मनोरथ को पूर्ण न करने का अपयश लगता) ऐसा नहो इस कारण श्रीरामचन्द्र के वियोगसे चित्त में दुःखित होतेहुए उन को मुनि विश्वामित्र जी के हाथ में सौंपदिया तब वह श्रीरामचन्द्रजी छोटे भ्राता लक्ष्मणजीके सहित चित्त में बडे प्रसन्न होतेहुए उन विश्वामित्रजी के साथ चलेगये ॥ ६ ॥

सुन्दस्त्रीदमनप्रमोदमुदितादास्थाय विद्योदयं
रामः सत्यवतीसुतादथ गतस्तस्याश्रमं लीलया ।
क्लृप्ते कौशिकनन्दनेन च मखे तत्रागतान्राक्षसा-
न्हत्वाऽमूमुचदाशु भाविविदसौ मारीचमुग्राकृतिम् ॥ ७ ॥

सुन्द नामक राक्षस की स्त्री (ताडका) का प्राणान्त करदेने के हर्ष से प्रसन्न ९ सत्यवती के पुत्र विश्वामित्र जी से बला अतिबला विद्या के तत्त्व को पाकर श्रीरामचन्द्र जी फिर लीला करतेहुए उन के आश्रम में जापहुँचे तहाँ विश्वामित्र जी के यज्ञ करतेसमय आयेहुए राक्षसों का संहार करके तत्काल होनहार (मृगरूप धारनेवाले इस के द्वारा रावण सीता को हरेगा, इस बात) को जाननेवाले श्रीरामचन्द्र जी ने भयानक आकारवाले मारीच राक्षस को छोड़दिया ॥ ७ ॥

पूर्णे यज्ञविधौ यियासुरभवद्रामेण सार्धं मुनिः
सीतासंवरणागताखिलनृपव्याभग्नवीर्यश्रियम् ।
श्रुत्वा तद्धनुरुत्सवं च मिथिलामास्थाय तेनाधिकं
सत्कारैरुपलम्भितः पुनरगाच्चापाश्रितं मण्डलम् ॥ ८ ॥

यज्ञ का कार्य समाप्त होनेपर मिथिलापुरी में राजा जनक ने धनुषयज्ञ किया है, और उस यज्ञ में सीता को वरने के लिये आयेहुए सब राजे अपनी वीरता की शोभा को नष्ट करचुके हैं, यह सुनकर मुनि विश्वामित्र जी ने वहाँ जाना चाहा और फिर श्रीरामचन्द्र जी के साथ उस मिथिलापुरी में पहुँचे, वहाँ जनक राजा के द्वारा बहुतकुछ सत्कार पाकर, तदनन्तर जहाँ धनुष रक्खा था उस यज्ञ-मण्डल में पहुंचे ॥ ८ ॥

तदा सीता (आत्मगतम्)–

कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्तिरसौ रघुनन्दनः ।
कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः॥ ९॥

सीता–(उस समय अपने मन में ही) यह धनुष कछुए की पीठ की समान कठोर है, और यह रघुकुल के आनन्द को बढानेवाले कुमार श्रीरामचन्द्र जी सुकुमार मूर्ति हैं । हा ! यह इस धनुष को अधिज्य (रोदा चढ़ाहुवा) कैसे करेंगे ! इस कारण हे पिताजी ! तुम्हारी " जो कोई धनुष को चढ़ावेगा उसी को सीता दूँगा" यह प्रतिज्ञा बड़ी दुःखदायक है, अर्थात् यदि तुमने यह प्रतिज्ञा न की होती तो इस स्वयंवर में मैं श्रीरामचन्द्र जी को ही वरती ॥ ९ ॥

रामो लक्ष्मणं प्रति--

आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः
कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्तेश्च लाभः परः ।
नाकृष्टं न च टङ्कितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः
केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम् ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी (लक्ष्मणजी से) देखो यह सब राजे इस द्वीप से तथा इस द्वीप के वाहर से भी आये हैं (क्योंकि) यहाँ निर्मल सुवर्ण की समान कोमल कान्तिवाली जनक की पुत्री तथा कीर्ति का भी वड़ाभारी लाभ होगा, (परंतु जिस धनुष को चढाने पर ऐसा होसकता है ऐसा) यह वड़ाभारी धनुष न किसी ने खींचा, न किसीने (रोदा चढ़ाकर) इस का टंकार शब्द किया, न नमाया । अधिक क्या कहूँ किसी ने इस को स्थान से उठाया तक भी तो नहीं । हा बड़े आश्चर्य की वात है कि–आज इस भूतल पर इस योग्य कोई भी वीर नहीं रहा ॥ १० ॥

लक्ष्मणो रामहृदयानन्दकंदाङ्कुरोद्भवाय निजप्रचण्ड-दोर्दण्डयोर्महतीं प्रौढिं नाटयति--

देव श्रीरघुनाथ किं बहुतया दासोऽस्मि ते लक्ष्मणो
मेर्वादीनपि भूधरान्न गणये जीर्णः पिनाकः कियान् ।
तन्मामादिश पश्य पश्य च बलं भृत्यस्य यत्कौतुकं
प्रोद्धर्तुं प्रतिनामितुं प्रचलितुं नेतुं निहन्तुं क्षमः ॥ ११ ॥

लक्ष्मण जी–(श्रीरामचन्द्र जी के हृदय के आनन्द रूपी कन्द में अङ्कुर उत्पन्न होने के लिये अर्थात् हृदय के आनन्द को वढ़ाने के लिये अपने परमवली भुजदण्डों की अतिप्रौढ़ता का वर्णन करते हैं कि हे सर्वत्र विजय पानेवाले श्री-रघुनाथ जी ! अधिक कहना वृथा है, (अभी तो इस भूतल पर) एक आप का सेवक मैं लक्ष्मण ही ऐसा हूँ कि–सुमेरु आदि पर्वतों को भी कुछ नहीं गिनता, फिर यह पुराना पिनाक धनुष तो है ही क्या ! इस कारण मुझ को आज्ञा दीजिये और फिर सेवक के, आश्चर्य में डालनेवाले वल को देखिये कि–इस धनुप को मैं भूमिपर से उठासकता हूँ उठाकर पूरा २ नमासकता हूँ गेंद की समान उछालसकता हूँ दूसरे स्थान पर ले जासकता हूँ और अधिक क्या कहूँ तोडकर टुकड़े २ भी करसकता हूँ फिर खैंचने का तो कहना ही क्या है ॥ ११ ॥

रावणपुरोहितो जनकं प्रति-

दातव्येयमवश्यमेव दुहिता कस्मैचिदेनामसौ
दोःक्रीडामशकीकृतात्रिभुवनो लंकापतिर्याचते ।
तत्किं मूढवदीक्षसे ननु कथागोष्ठीषु नः शासते
तद्वृत्तानि परोरजांसि मुनयः प्राच्या मरीच्यादयः ॥१२॥

रावण का पुरोहित-[श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी की इस प्रकार बातें होरहीं थीं, इतने ही में आकर] (राजा जनक से) देखो जनक ! यह कन्या तो किसी न किसीको अवश्यही दीजायगी और यह प्रसिद्ध वंशके, त्रिलोकीको क्रीडामात्रमेंही अपनी भुजाओंसे जीतलेनेवाले, लंकापति रावण, इस कन्याको स्वयं मांगते है सो अव तुम अज्ञ पुरुषकी समान विचारमें क्यों पडे हो ? (आहा ! जरा ध्यान तो दो यह वह रावण है कि-) जिसके शुद्ध चरित्रोंको पूर्वकालके मरीचि आदि मुनि कथा वार्ताके समय हमको सुनाया करते हैं (सो स्वयं मांगनेवाले ऐसे गुणी रावणको यह कन्या दे देनी चाहिये ॥ १२ ॥

पुनः रामं प्रति-

समंतादुत्तालैः सुरसहचरीचामरमरु-
त्तरङ्गैरुन्मीलद्भुजपरिघसौरभ्यशुचिना ।
स्वयं पौलस्त्येन त्रिभुवनजिता चेतसि धृता-
मरे राम त्वं मा जनकपतिपुत्रीमुपयथाः ॥ १३ ॥

(फिर श्रीरामचन्द्रजीसे) अरे राम ! तू इस राजा जनककी पुत्रीको पानेकी आशा मत कर, क्यों कि-चारों ओरसे चलते हुए देवाङ्गनाओंके हाथोंमेंके चँवरोंकी पवनके झकोलोंसे जिसके सुगन्धियुक्त लोहेके दण्डोंकी समान भुजदण्ड हरसमय फडकते रहते हैं, उस त्रिलोकीको जीतनेवाले साक्षात् रावणने इसके साथ विवाह करनेका चित्तमें पक्का निश्चय कर लिया है ॥ १३ ॥

जनकः—

माहेश्वरं धनुः कुर्यादधिज्यं चेद्ददामि ताम् ।

पुरोहितः—

गुरोः शंभोर्धनुर्नो चेच्चूर्णतां नयति क्षणात् ॥ १४ ॥

जनक—पुरोहितजी ! यदि आपके लंकापति रावण शिवजीके पिनाक धनुषपर रोदा चढा सकेंगे तो मैं उनको सीता दे दूँगा ।

पुरोहित—(देखो जनकजी !) यदि यह धनुष उनके गुरुदेव महादेवजीका न होता तो, चढाना अलग रहा, वह इसका चूरा २ कर डालते ॥ १४ ॥

जनकः विहस्य—

शम्भोरावासमचलमुत्क्षेप्तुं भुजकौतुकी ।
माहेश्वरं धनुः कष्टमर्हते दशकंधरः ॥ १५ ॥

जनक—(हँसकर) हां हां पुरोहितजी ! वह तुम्हारे लंकापति दशकन्धर जब महादेवजीके निवासस्थान कैलासपर्वतको ऊपरको उठा लेनेमें अपनी भुजाओंका कौतुक दिखा चुके हैं तो शिवजीके धनुषको भी चढाही सकेंगे ॥ १५ ॥

जनकः सीतां प्रति सखेदम्—

माहेश्वरो दशग्रीवः क्षुद्राश्चान्ये महीभुजः
पिनाकारोपणं शुल्कं हा सीते किं भविष्यति ॥ १६ ॥

जनक—(सीताजीकी ओरको देख दुःखित होते हुए) यह रावण शिवजीका भक्त है (इस कारण शिवजीके धनुषको नहीं चढा सकता है) अन्य राजे अधिक पराक्रमी नहीं हैं (और तेरे विवाहके विषयमें मेरा) प्रण रूपी मूल्य केवल पिनाक धनुषको चढा लेना है, हा सीते ! न जानें अब तेरी क्या दशा होगी ॥ १६ ॥

श्रीरामः नाट्यम्–

कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यञ्शृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं रचयति रघूणां परिवृढः ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजी–(चारों ओर को देखते २ अपने वेशको सम्हालते हुए) धनुषयज्ञके स्थानमें नीचेको मुख किये बैठी हुई जानकी के, हाथीके पाठेके दातों की कान्तिको चुरानेवाले कपोलमें अभिलाषाभरी मुसकुरानके साथ, गण्डस्थलमें रोमाञ्चयुक्त अपने मुखको वार २ देखते हुए और राक्षसों की सेनाके कलकल शब्दको सुनते हुए रघुवंशियों में प्रचण्ड रामचन्द्र (अत्र अपने) जटाजूटकी गाँठको बाँधते हैं (अर्थात् धनुषके चढानेको उद्यत होते हैं) ॥ १९ ॥

गृहीतहरकोदण्डे रामे परिणयोन्मुखे ।
पस्पन्द नयनं वामं जानकीजामदग्न्ययोः ॥ २० ॥

सीताके साथ विवाह करनेमें उत्कण्ठित होकर शिवजीके पिनाक धनुषको उठातेही जानकी और परशुरामजीका वायाँ नेत्र फडका (अर्थात् जानकीको मनोरथ पूर्ण करनेवाला शकुन और परशुरामजीको आनेवाले भयका सूचित करने वाला शकुन हुआ ॥ २० ॥

लक्ष्मणो रामे सज्यं धनुः कुर्वति सति पृथ्व्यादीनि भुवनान्यधो यास्यन्तीत्याशङ्क्याह–

पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां
रामः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥ २१ ॥

लक्ष्मणजी–(श्रीरामचन्द्रजीके धनुष को चढानेका उद्योग करनेपर पृथ्वी आदि लोकोंके नीचेको धसजानेका सन्देह करके कहते हैं) अरी पृथ्वी ! तू स्थिरहो ! (अपने आपे को सम्हाल) हे शेषनाग ! तुम इस पृथ्वीको (सावधानीसे) धारण करे रहो. हे कच्छपराज ! तुम इन पृथ्वी और शेषनाग दोनोंको सम्हाले रहो! तथा हे दिग्गजो ! तुम पृथ्वी शेषनाग और कूर्मराज इन तीनोंको धारण करे रहनेमें जरा ध्यान दो ! क्योंकि अब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी शिवजीके पिनाक धनुषको चढाते हैं ॥ २१ ॥

पृथ्वी याति विनम्रतां फणिपतेर्नम्रं फणामण्डलं
बिभ्रत्क्षुभ्यति कूर्मराजसहिता दिक्कुञ्जराः कातराः ।
आतन्वन्ति च बृंहितं दिशि भटैः सार्धं धराधारिणो
वेपन्ते रघुपुंगवे पुरजितः सज्यं धनुः कुर्वति ॥ २२ ॥

अरे रे ! श्रीरघुनाथजीके त्रिपुरारि (महादेवजी) के धनुष को सम्हालते ही–पृथ्वी धसकसी गई उस पृथ्वीको धारनेवाले सर्पराज शेषनागजीके फणोंका मण्डल लचकगया, कूर्मराज सहित दिग्गज घबडाकर डामाडोल होगये और चिंघार शब्द करने लगे तथा सब दिशाओंमें पृथ्वीको धारनेवाले राजाओंके साथ सब पर्वत काँपगये ॥ २२ ॥

तदा च–

उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितं
भूपानां जनकस्य संशयधिया साकं समास्फालितम् ।
वैदेहीमनसा समं च सहसाकृष्टं ततो भार्गव-
प्रौढाहंकृतिदुर्मदेन सहितं तद्भग्नमैशं धनुः ॥ २३ ॥

(उस समय) ज्यों ही श्रीरामचन्द्रजीने धनुष ऊपर को उठाया कि–(प्रेम के कारण) विश्वामित्रजीके शरीरपर रोमांच खडे होगये । फिर ज्यों ही उसको नमाया कि–उसके साथ ही राजाओंके मुख भी (लज्जा और भयके कारण) नीचेको नमगये । तदनन्तर ज्यों ही उसके ऊपर टंकार दी कि उसके साथ ही राजा जनक

का हृदय करुणासे भर आया, और चित्तका सन्देह दूर होगया। फिर ज्यों ही धनुषको धरकर खेंचा कि उस खिंचनेके साथही आनन्दमें भराहुआ जनककुमारीका मन उनकी ओर को खिंचगया और फिर उस शिवधनुषके टूटतेही (दिव्य दृष्टि वाले पुरुषोंने समझलिया कि आज श्रीरामचन्द्रजीकी वीरता ने) परशुरामजीके परम अहङ्कारके दुर्मदको नष्ट करदिया ॥ २३ ॥

शंभौ यद्गुणवल्लरीमुपनयत्याकृष्य कर्णान्तिकं
भ्रश्यन्ति त्रिपुरावरोधसुदृशां कर्णोत्पलग्रन्थयः।
स्वं चास्फालयति प्रकोष्ठकमिमामुन्मुच्य तासामहो
भिद्यन्ते वलयानि दाशरथिना तद्भग्नमैशं धनुः ॥२४॥

शिवजी जिस धनुषके रोदेको खेंचकर अपने कानोंतक ले गयेथे तो त्रिपुरासुर के रणवास की सुन्दर नेत्रवाली स्त्रियोंके कणोंके कमलों (कर्णफूलों) की गांठें खुलपडी थीं और जब उस रोदेको छोडकर अपने पहुँचे पर उसकी टंकार दी थी उस समय उनही त्रिपुरासुर की रानियोंके कङ्कण टूट २ कर गिर पडे थे; आहा ! उसही प्रतापी धनुष को दशरथनन्दनने तोड मरोड डाला ॥ २४ ॥

अपि च—

तद्ब्रह्ममातृवधपातकिमन्मथारि—
क्षत्रान्तकारिकरसंगमपापभीत्या।
ऐशं धनुर्निजपुरश्चरणाय नूनं
देहं मुमोच रघुनन्दनपाणितीर्थे ॥ २५ ॥

(और यह बात भी है कि) यद्यपि राजा जनककी प्रतिज्ञा केवल धनुषको उठाकर चढालेने मात्रकी ही थी. तथापि उस शिवजीके धनुष ने मैं ब्रह्माजीका वध करनेवाले शिव और माताका वध करनेके पातकी परशुरामजीके हाथका संग होनेसे पापका भागी हुआ हूँ इस भयसे अपना प्रायश्चित्त करनेके लिये (अपने आपही) श्रीरघुनाथजी के हाथरूपी तीर्थमें अपना शरीर त्याग दिया ॥ २५ ॥

त्रुट्यद्भीमधनुःकठोरनिनदस्तत्राकरोद्विस्मयं
त्रस्यद्वाजि रवेरमार्गगमनं शंभोः शिरः कम्पनम् ।
दिग्दन्तिस्खलनं कुलाद्रिचलनं सप्तार्णवोन्मेलनं
वैदेहीमदनं मदान्धदमनं त्रैलोक्यसंमोहनम् ॥ २६ ॥

उस समय टूटते हुए शिव धनुषके घोर शब्दने ऐसा बडा भारी आश्चर्य कर डाला कि सूर्यदेवके घोडे घबडाकर मार्गको भूल किधरसे किधरहीको जाने लगे । समाधिमें स्थित शिवजीका शिर भी कांप उठा, दिग्गज चक्कर खाकर ठोंकरें खाने लगे । कुलाचल (पर्वत) डगमगाने लगे । सातों समुद्र उछल २ कर आकाशमें जा एक रूप होगये, मैथिली मोहित होगई, जितने राजे घमण्डसे अन्धे होरहे थे, उनका मद मर्दन होगया और अधिक क्या कहैं त्रिलोकी भर भौचकासी होगई२६॥

रुन्धन्नष्ट विधेः श्रुतीर्मुखरयन्नष्टौ दिशः क्रोडय-
न्मूर्तीरष्ट महेश्वरस्य दलयन्नष्टौ कुलक्ष्माभृतः ।
तान्यक्ष्णा वधिराणि पन्नगकुलान्यष्टौ च संपादय-
न्नुन्मीलत्ययमार्यदोर्बलदलत्कोदण्डकोलाहलः ॥ २७ ॥

श्रीरघुनाथजीके भुजबलसे टूटनेवाले धनुषका घनघोर शब्द चतुर्मुख ब्रह्माजीके आठों कानोंको भर कर गूँगा करता, आठों दिशाओंको गुंजारता–शिवजीकी आठों (भूमि, जल, अग्नि, आकाश, वायु, याज्ञिक, चन्द्रमा, और सूर्य) मूर्तियोंको व्याकुल करता, आठों (विजय, कुमुद, नील, निषध, हिमवान्, जयन्त, काल-निषध, और वाहीक) कुल पर्वतोंको दहलाता और उन जगत्प्रसिद्ध आठों (नाग–सर्प, उरग, आखुभुक्, दन्दशूक, विजिह्मग, मायिक, अमृतपालेय, और शेष) सर्प कुलोंको नेत्रोंसे बहरा करता हुआ चारों ओर प्रकट होरहा है ॥ २७ ॥

गद्यम्–जामदग्न्यस्त्रुट्यद्भैरवधनुःकोलाहलामर्षमूर्च्छितः
प्रलयमारुतोद्धूतकल्पान्तानलवत्प्रदीप्तरोषानलः ।

रामं प्रति परशुरामं सूचयन्–

यद्बभञ्ज जनकात्मजाकृते राघवः पशुपतेर्महद्धनुः ।
तद्धनुर्गुणरवेण रोषितस्त्वाजगाम जमदग्निजो मुनिः ॥२८॥

(यह तो) टूटनेवाले शिवधनुष के घनघोर शब्द को सुन क्रोध से विह्वल हुए, प्रलयकाल के पवन से प्रज्वलित होते हुए कल्पान्त काल के अग्नि के समान प्रचण्ड क्रोधरूप अग्नि में भरे परशुराम जी आगये ! (श्रीरामचन्द्र जी को परशुराम जी का आगमन सूचित करते हुए) श्रीमहाराज ने जो जानकी के लिये शिवजी का बड़ा भारी पिनाक धनुष तोडा है, उस धनुष के रोदे के शब्द से क्रोध में भरेहुए जमदग्नि जी के पुत्र परशुराम मुनि आगये ॥ २८ ॥

चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्निग्धपवित्रलाञ्छितमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम् ।
मौञ्ज्या मेखलया नियन्त्रितमधो वासश्च माञ्जिष्ठकं
पाणौ कार्मुकसाक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः ॥ २९ ॥

पीठ पर दोनों ओर चोटी के स्पर्श करनेवाले कङ्कपक्षी के परोंसे युक्त दो भाथों को धारण कियेहुए, भस्म से जिनका चिकना और पवित्र वक्षःस्थल दिपरहा है, काली मृगछाला को ओढे, मुंज की मेखला से कमर कसे हुए मजीठ के रंग के अधोवस्त्र को पहिने और हाथ में धनुष रुद्राक्ष की पुही सुमरनी तथा पीपल का श्रेष्ठ दण्डा धारण किये हैं ॥ २९ ॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत् ।
यः ससोम इव घर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥३०॥

जो परशुराम जी सूत के यज्ञोपवीतरूप पिता के अंश को और प्रतापी धनुषरूप माता के अंशको धारण किये हुए, चन्द्रमायुक्त सूर्य की समान और सर्पों से लिपटे चन्दनवृक्ष की समान शोभित हैं ॥ ३० ॥

आजन्म ब्रह्मचारी पृथुलभुजशिलास्तम्भविभ्राजमान-
ज्याघातश्रेणिसंज्ञान्तरितवसुमतीचक्रजैत्रप्रशस्तिः ।
वक्षःपीठे घनास्त्रव्रणकिणकठिने संक्ष्णुवानः पृषत्का-
न्प्राप्तो राजन्यगोष्ठीवनगजमृगयाकौतुकी जामदग्न्यः ॥३१॥

हे रघुनाथजी जो कि शिला के खंभेरूप अपने भुजदण्डों में शोभायमान रोदे को टंकारने की ठेठों की पंक्ति से अपने भूमण्डलभर को जीतलेने की गुणावली का विज्ञापन देरहे हैं और जो वडे अस्त्रों के घावों की ठेठों से कठोर हुए अपने वक्षःस्थल रूपी शिला पर बाणों को तीक्ष्ण किया करते हैं, वही राजाओं के समूहरूपवनके हाथियों को मारने के लिये मृगया (शिकार) के कौतुकी (शौकीन) बालब्रह्मचारी परशुराम जी आये हैं ॥ ३१ ॥

सोऽयं सप्तसमुद्रमुद्रितमहीपस्यार्जुनस्योद्धतं
छित्त्वा भैरवसंगरेति जरठं कण्ठं कुठारेण यः ।
रेवापूरनिरोधहेतुगहनं बाह्वोः सहस्रं जवा-
त्काण्डं काण्डमखण्डयत्पितृवधामर्षेण वर्षीयसा ॥ ३२ ॥

(फिर फरसे को देखकर) हे रघुनन्दन जी यह वही परशुराम हैं कि जब सहस्रबाहु अर्जुन ने इन के पिता को मारडाला था तो अत्यन्त क्रोध में भरेहुए इन्हों ने अतिभयानक रण में उद्धतता के साथ फरसे से उस सात समुद्रों से घिरीहुई पृथ्वी का पालन करनेवाले सहस्रबाहु राजा के अतिकठोर कण्ठ को काट-कर फिर जिन भुजाओं से उसने रानियों के साथ जलक्रीडा करने में नर्मदा नदी का प्रवाह रोकदिया था। उन सहस्रों भुजाओं को बडी शीघ्रता से काटकर टुकडे२ करडाला था ॥ ३२ ॥

पुनः परशुं दृष्ट्वा—

येन त्रिःसप्तकृत्वो नृपबहलवसामांसमस्तिष्कपंक-
प्राग्भारेऽकारि भूरिच्युतरुधिरसरिद्वारिपूरेऽभिषेकः ।

यस्य स्त्रीबालवृद्धावधि निधनविधौ निर्दयो विश्रुतोऽसौ
राजन्योच्चांसकूटक्रथनपटुरटद्घोरधारः कुठारः ॥ ३३ ॥

इन का यह वह प्रसिद्ध फरसा है कि जिस ने इक्कीस वार स्त्री बालक और बूढों तक के मस्तक काट लेने पर गिरेहुए वहुतसे रुधिर की नदी के राजाओं की चरवी मांस–और मज्जों की दलदल से भरेहुए प्रवाह में स्नान किया था, और जिस फरसे की डरावनी धार, क्षत्रिय राजाओं के ऊंचेकन्धे रूप पर्वतों को चीरने में चर चर शब्द करती है ॥ ३३ ॥

जामदग्न्यः क्रोधं नाटयित्वा–
केनेदं कुपितकालदन्तपत्रान्तरालमिच्छता धनुर्भग्नम् ।

रामः साशङ्कम्–

पार्वत्या निजभर्तुरायुधमिति म्लानं यदभ्यर्चितं
निर्मोकेन च वासुकेन वलितं यत्सादरं नन्दिना ।
भव्यं यत्त्रिपुरेन्धनं धनुरिदं तन्मन्मथोन्माथिनः
सत्येवं मयि रामनामनि भुवि द्वेधा कृतं दृश्यते ॥ ३४ ॥

परशुरामजी—(क्रोधमें भरे हुए) क्रोधमें भरेहुए कालके दांत रूपी आरोंके वीचमें निकी इच्छा करनेवाले किस पुरुषने यह धनुष तोडा है ? श्रीरामचन्द्रजी (शंकितसे होकर) हे मुनिजी ! शत्रुओंके हर्षका नाश करनेवाले जिस धनुषको पार्वतीजीने अपने पतिका शस्त्र होनेके कारण पूजा था, नन्दीगणने जिसको वडे आदरके साथ वासुकि सर्पकी केंचुलीमें लपेटकर रक्खा था और जिसने त्रिपुरासुरका ईंधन कर-डाला था, वही कामदेवको भस्म करनेवाले शिवजीका यह अति सुन्दर धनुष मुझ राम नामवालेके कारणसे दो टुकडे होकर भूतलपर पडा दीख रहा है ॥ ३४ ॥

जामदग्न्यः–(स्फीतफूत्कारप्रफुल्लनासापुटकोटरोद्गीर्णप्रभूत-गर्वानलोच्छलितकालकूटधूमस्तोमाच्छादितदिङ्मण्डलः)
अरे रे निजकुलकमलिनीप्रालेयवर्ष दाशरथे कथमकाण्ड-

मदान्तप्रचण्डदोर्दण्डकोदण्डखण्डचण्डिमाडम्बरेणापूरितं-
जगत्त्रयम्।सकलवसुमतीमण्डलाखण्डलकुमुदिनीपक्षलक्ष्मी-
हरणकिरणमालिनं न मां वेत्सि । येनोक्तः कार्तवीर्यः—
सहस्रबाहुस्त्वमहं द्विबाहुस्त्वं सैन्ययुक्तोऽस्यहमेक एव ।
त्वं चक्रवर्त्ती मुनिनन्दनोऽहं तथापि नौ पश्यतु तर्कमर्कः॥

(परशुरामजी लम्बे २ श्वासोंके कारण फूले हुए नाकके पुडोंके छेदोंमेंको निकलते हुए बडे भारी घमण्डकी कालकूट विष समान ज्वालाओंके धुएँके समूहसे दिशाओंके मण्डलको छाते हुए) अरे रे ! अपने कुलरूप कमलपूर्ण सरोवरके लिये पालेकी वर्षा समान अर्थात् अपने वंशविध्वंसके कारण रूप-दशरथकुमार ! किस कारण असमयमें प्रचण्ड भुजदण्डोंकी-धनुषको तोड डालनेकी उद्धतताके आडम्बरसे त्रिलोकी भरमें कोलाहल मचा दिया है ! अरे सकल भूमण्डलके इन्द्रसमान राजे रूप कुमुदिनियों (चन्द्रमाके प्रकाशमें खिलनेवाले कमलों) के पक्षकी राज्य आदि रूप लक्ष्मीको हरलेनेमें सूर्य समान अर्थात् भूमण्डल भरके बडे २ राजोंके नाशक मुझको क्या तू नहीं जानता है अरे ! जिस मैंने राजा कार्त्तवीर्य (सहस्रबाहु अर्जुन) से यह कहा था कि,

यद्यपि तेरी सहस्र भुजा हैं और मेरी दोही भुजा हैं, तू सेनाको साथमें लिये हुए हैं और मैं अकेलाही हूँ, तथा तू चक्रवर्ती राजा है, और मैं मुनिका पुत्र हूँ, तब भी आज हम दोनोंके कर्त्तव्यको सारा संसार देखै ॥ ३९ ॥

उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयितुं क्षत्रसंतानरोषा-
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णप्रतिवचनमहो मन्दमन्दायमान-
क्रोधाग्नेः सर्वतो मे स खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ३८॥

अरे मूढ ! सकल प्राणियोंमें ऐसा कोई नहीं है, जो मेरे प्रभावको न जान चुका हो, परन्तु तूने अबतक नहीं जाना, यह बडे आश्चर्यकी वात है, अरे मैं वह

हूँ, जिसने क्षत्रियोंकी सन्तानपर क्रोध आजानेसे बार २ पेटमेंसे गर्भोंको निकाल कर उनके टुकडे २ करनेमें दयाको त्याग दिया फिर सकल स्त्री वृद्ध और युवा राजवंशी क्षत्रियोंको २१ बार यमराजके यहां पहुँचाया, तथा उनके रुधिरसे पितरों को तृप्त करके जिसने अपनी क्रोधाग्निको शान्त किया, मैं वही क्षत्रियोंके रुधिरसे तिल कुश यव आदिका काम लेने वाला परशुराम हूँ ॥ ३६ ॥

अपि च-

आश्चर्यं कार्तवीर्यार्जुन भुजविपिनच्छेदलीलाविदग्धः
केयूरग्रन्थिरत्नोत्करकषणरणत्कारघोरः कुठारः ।
तेजोभिः क्षत्रगोत्रप्रलयसमुदितद्वादशार्कानुकारः
किं न प्राप्तः स्मृतिं ते स्मरदहनधनुर्भङ्गपर्युत्सुकस्य ॥३७॥

(और भी सुन) अरे राम ! कामारि शिवके धनुपको तोडनेका चाव करते हुए तुझको क्या मेरे फर्सेका स्मरण न आया ? अरे ! यह वह फर्सा है, जिसने कृतवीर्यके पुत्र सहस्रबाहु अर्जुनकी भुजाओंके काटनेमें अपनी चतुरता दिखाईथी, और उन भुजाओंमें पहिरे हुए बाजू बन्दोंके जडावके रत्नोंकी कोरोंपर रगड लग- नेसे जिसने घोर शब्द किया था, तथा क्षत्रियोंके वंशका प्रलय होनेपर जिसने अपने अपने तेजों करके प्रलयकालके १२ आदित्योंकी समता पाई थी ॥ ३७ ॥

रामः सानुनयम्-

बाह्वोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य
त्रैयम्बकस्य महिमा न तवापि सैषः ।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥ ३८ ॥

(रामचन्द्र जी विनय के साथ)-हे परशुराम जी ! मैं आप की भुजाओं के बल को नहीं जानता था, तथा शिवजी के धनुप की और आप की यह महिमा भी मुझे विदित नहीं थी, इस कारण मेरी चपलता को क्षमा करिये; क्यों कि बालकों के अनुचित कार्य भी गुरुजनों को आनन्ददायक होते हैं ॥ ३८ ॥

अपि च-

अयं कण्ठः कुठारस्ते कुरु राम यथोचितम् ।
निहन्तुं हन्त गोविप्रान्न शूरा रघुवंशजाः ॥ ३९ ॥

(और भी सुनिये) यह मेरा कंठ है और आप का कुठार है, अब हे परशु-राम जी ! आप को जो उचित जँचे सो करिये क्योंकि महाराजा रघु के वंश में उत्पन्न होनेवाले हम, गौ और ब्राह्मणों का वध करने में अपनी शूरता नहीं दिखा सकते ॥ ३९ ॥

सवैदग्ध्यम्-

भो ब्रह्मन्भवता समं न घटते संग्रामवार्तापि नो
सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि ।
यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजा-
मस्माकं भवतो यतो नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम् ॥ ४० ॥

(चतुराई के साथ) हे ब्राह्मण ! हमारा आप के साथ तो संग्राम की बात करना भी उचित नहीं है. क्योंकि आप के सामने हम सब हीनबल हैं, और आप बलवानों के भी मस्तक पर स्थित होनेवाले हैं ! इस का कारण यह है, कि हम राजाओं का बलरूप यह धनुष एक ही गुण (रोदे) वाला दीख रहा है और आप का यज्ञोपवीत रूप बल तो नवगुण (नौतार का) है ॥ ४० ॥

जातः सोऽहं दिनकरकुले क्षत्रियः श्रोत्रियेभ्यो
विश्वामित्रादपि भगवतो दृष्टदिव्यास्त्रपारः ।
अस्मिन्वंशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा
विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः साहसिक्याद्बिभेमि ॥ ४१ ॥

ऐसा भी मैं क्षत्रिय महाराज सूर्य के वंश में उत्पन्न हुआ, तथा वेद के पार-गामी गुरुजनों और भगवान् विश्वामित्र जी से भी मैंने दिव्य अस्त्रविद्या का पार पाया है, तथापि अब संसार इस वंश में मुझ को यश दे वा अपयश दे मैं तो ब्राह्मण पर शस्त्र उठाने के बडे भारी साहस से डरता हूँ ॥ ४१ ॥

परशुरामः (साभ्यसूयम्)

येन स्वां विनिहत्य मातरमपि क्षत्रास्रमध्वासवं
स्वादाभिज्ञपरश्वधेन विदधे निःक्षत्त्रिया मेदिनी ।
यद्बाणव्रणवर्त्मना शिखरिणः क्रौञ्चस्य हंसच्छला-
दद्याप्यस्थिकणाः पतन्ति स पुनः क्रुद्धो मुनिर्भार्गवः ॥४२॥

परशुराम (क्रोधमें भरकर) अरे ! जिसने अपनी माताको भी मारकर क्षत्रियोंके रुधिररूपी मधुर आसवके स्वादको जाननेवाले कुठारसे पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर दिया और जिसके बाणके घावरूप मार्गमें होकर अब भी हंसोंके बहानेसे क्रौंच पर्वतकी हड्डियोंके कण गिरते हैं वही भृगुवंशी मुनि आज फिर क्रोधको प्राप्त हुआ है ॥ ४२ ॥

रामः—स्त्रीषु प्रवीरजननी जननी तवैव देवी स्वयं भगवती
गिरिजापि यस्यै । त्वद्दोर्वशीकृतविशाखमुखावलोकव्रीड़ा-
विदीर्णहृदया स्पृहयांबभूव ॥ ४३ ॥

रामचन्द्र—महाराज सकल स्त्रियोंमें ऐसे परमवीरको उत्पन्न करनेवाली आपकीही माता हैं क्यों कि जिसकी समताके लिये तुम्हारे भुजदण्डोंसे वशीभूत हुए स्वामि कार्तिकेयके मुखको देख लज्जासे हृदयमें दुःखित होनेवाली साक्षात् भगवती देवीने भी इच्छा की थी ॥ ४३ ॥

अपि च—

हारः कण्ठे विशतु यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः
स्त्रीणां नेत्राण्यधिवसतु सुखं कज्जलं वा जलं वा ।
सम्पश्यामो ध्रुवमपि सुखं प्रेतभर्तुर्मुखं वा
यद्वा तद्वा भवतु न वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः ॥ ४४ ॥

(इसके सिवाय) मेरे कण्ठमें हार पडै, चाहे तीखी धारवाला कुठार, स्त्रियोंके नेत्रोंमें सुखके साथ कज्जल रहै चाहे, जल, (आंसू) निस्संदेह हमको सुख देखनेको

मिले चाहे प्रेतराज यमका मुख, अब जो होना हो सो हो परन्तु हम ब्राह्मणोंके ऊपर अपनी परम वीरताको किसी प्रकार नहीं दिखा सकते ॥ ४४ ॥

परशुरामः तथापि (साभ्यसूयम्)
यच्चापमीशभुजपीडनपीतसारं
प्रागप्यभज्यत भवांस्तु निमित्तमात्रम् ।
राजन्यकक्षपणसाधनमस्मदीय-
माकर्षकार्मुकमिदं गरुडध्वजस्य ॥ ४५ ॥

परशुराम–(और भी क्रोधके साथ) क्यों कि यह धनुष पहिलेसेही शिवजीकी भुजाओंके पीडनसे सारहीन होरहा था इस कारण टूट गया और तू तो इसके टूटनेमें अचानक कारण होगया। (हां यदि वीरताका बडा भारी घमण्ड है तो) जो क्षुद्र राजाओंका नाश करनेमें साधन होरहा है ऐसे इस मेरे विष्णु भगवान्के दिये हुए धनुषको चढा ॥ ४५ ॥

रामः (धर्षणामर्षमूर्च्छितः)
पुरोजन्मा नाद्यप्रभृति मम रामः स्वयमहं
न पुत्रः पौत्रो वा रघुकुलभुवां च क्षितिभुजाम् ।
अवीरं वीरं वा कलयतु जनो मामयमयं
मया बद्धो दुष्टद्विजदमनदीक्षापरिकरः ॥ ४६ ॥

(रामचन्द्र धनुषको चढा लेनेपर मुनिका तिरस्कार होता है, और न चढानेसे मेरा पराजय होता है, इस विचारसे तमककर) अब आगेको परशुराम मेरी दृष्टिमें अग्रजन्मा नहीं हैं, और मैं भी रघुवंशी राजाओंका पुत्र वा पौत्र नहीं हूँ । अब यह कौतुक देखनेको आया हुआ भूलोक निवासियोंका समूह और यह स्वर्गवासी देवताओं का समूह मुझको वीर जाने चाहे कायर जाने अब तो मैंने दुष्ट ब्राह्मणको दण्ड देनेके संकल्पमें कमर कस ली ॥ ४६ ॥

भूमात्रं कियदेतदर्णवमितं तन्निर्जितं हार्यते
यद्वीरेण भवादृशेन ददता त्रिःसप्तकृत्वो जयम् ।

डिम्भोऽयं नवबाहुरीदृशमिदं घोरं च वीरव्रतं
तत्क्रोधाद्विरम प्रसीद भगवञ्जात्यैव पूज्योऽसि नः ॥ ४७ ॥

हे भगवन् परशुरामजी ! (विनय होनेपर तीन लाभ होते हैं । हारनेवालेके ऐश्वर्यको ले लेना, अपने जयका प्रसिद्ध होना, या शत्रुका वध होना; परन्तु आपका पराजय होनेमें कोई भी लाभ नहीं) क्यों कि यह समुद्रतककी पृथ्वी मात्र हैही कितनी, सो भी आपसे वीरने २१ वार जीती है, उसको हम आपसे लेलें यह कौन बात है । और वह जीती हुई पृथ्वीभी आपकी नहीं है, क्योंकि उसको आप जीत जीतकर बराबर ब्राह्मणोंको दान करते रहे हैं, (इस कारण ऐश्वर्यकी तो आशाही नहीं और जय प्राप्त होनेकी भी आशा नहीं है, क्यों कि) मैं नई भुजावाला तरुण हूँ और आप बूढे हैं, तथा यह वीरोंका नियम ऐसा घोर है इसमें बूढे बालक आदि पर प्रहार करना अनीति समझी जाती है, इस कारण बूढेको जीतना पराजयही है) आप जातिसे ब्राह्मण होनेके कारण हमारे पूजनीय हैं । पूजनीयका वध करना भी नहीं वनता (इस प्रकार आपको जीतनेमें कोई लाभ नहीं दीखता है, सो हे भग-वन् ! क्रोधको त्याग प्रसन्न हूजिये, (जिससे कि हमको आपकी हत्याका अपयश न उठाना पडे) ॥ ४७ ॥

द्विः शरं नाभिसंधत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान् ।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते ॥ ४८ ॥

रामचन्द्र वाण दो वार नहीं चढाता (अर्थात् एक ही वाण से शत्रु का नाश करसक्ता है) आश्रितों को दो वार स्थापित नहीं करता (अर्थात् एक ही वार में अभय करदेता है) याचकों को दो वार नहीं देता (अर्थात् एक ही वार में निहाल करदेता है) और दो प्रकार की वात नहीं कहता (अर्थात् जो एक वार कहता है, बराबर उसी का पालन करता है) ॥ ४८ ॥

तदा सीतानाट्यम् ।

तच्चापमाकर्षति ताटकारावाकर्णमाकर्णविशालनेत्रा ।
सासूयमैक्षिष्ट विदेहजासौ कन्यां किमन्यां परिणेष्यतीति ॥ ४९ ॥

(उस समय सीता जी की दशा का वर्णन) ताडका शत्रु श्रीरामचन्द्र जी के कान तक उस धनुष को खेंचने पर विशालनेत्रा इस सीताने इस कारण आवेश में भरकर देखा कि क्या अब यह किसी दूसरी कन्या के साथ विवाह करेंगे (तात्पर्य यह है कि सीता जी ने समझा कि यह स्त्रियों पर निर्दयी होने के कारण पहिले ताडका का वध करचुके हैं सो क्या शिव धनुष को चढाय मुझे वर कर भी अब जो परशु-राम जी के धनुष को चढारहे हैं तो क्या अब किसी दूसरी कन्या के साथ विवाह करके मुझ पर भी निर्दयीपना दिखावगे ॥ ४९ ॥

रामनाट्यवर्णनम् ।

रामस्तदादाय धनुः सहेलं बाणं गुणे योज्य यदा चकर्ष ।
भाति स्म साक्षात्मकरध्वजः स्वर्गतिं प्रचिच्छेद च भार्गवस्य॥५०॥

(श्रीरामचन्द्र जी के नाट्य का वर्णन) उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने लीला के साथ धनुष को उठा जब प्रत्यंचा पर वाण को चढाकर खैंचा तब साक्षात् कामदेव के समान शोभा को प्राप्त हुए, और उस वाण से परशुरामजी की स्व-र्गति को काटादिया ॥ ५० ॥

भार्गवः सानुनयम् ।

यः कार्त्तवीर्यस्य भुजासहस्रं चिच्छेद वीरो युधि जामदग्न्यः ।
स सायके रामकराधिरूढे ब्राह्मण्यदैन्यप्रणयी बभूव ॥ ५१ ॥

परशुराम (नम्रता के साथ) जिस जमदग्निकुमार वीर परशुराम ने संग्राम में कार्तवीर्य अर्जुन की सहस्र भुजाओं को काटा था, अब वही दशरथकुमार श्री-रामचन्द्र के धनुष को चढाने पर ब्राह्मणों की स्वाभाविक दीनता का प्रेमी हुआ ॥ ५१ ॥

धावद्धूर्जटिधर्मपुत्रपरशुक्षुण्णाखिलक्षत्रिय-
श्रेणीशोणितपिच्छिला वसुमती कोऽस्यामधास्यत्पदम् ।
त्रैलोक्याभयदानदक्षिणभुजावष्टम्भदिव्योदयो
देवोऽयं दिनकृत्कुलैकतिलको न प्राभविष्यद्यदि ॥ ५२ ॥

यदि यह त्रिलोकी को अभय दान देने में दाहिने हाथ का सहारा देनेवाले दिव्य मूर्ति सूर्यकुल तिलक श्रीरामचन्द्र जी अवतार न लेते तो क्षत्रियों का नाश करने में शीघ्रता करनेवाले रुद्रभगवान् के शिष्य परशुराम के कुठार से छिन्नभिन्न हुई सकल क्षत्रिय मण्डली के रुधिर से गीली हुई इस पृथ्वी में कौन चरण रख-सक्ता था, ॥ ५२ ॥

रामः पश्चाज्जामदग्न्यचरणकमलयोर्निपत्य—
उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरु-
र्वीर्यं यत्तु न यद्गिरामनुपथं व्यक्तं हि तत्कर्मभिः ।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः
सत्यब्रह्मतपोनिधे भगवतः किं किं न लोकोत्तरम् ॥५३॥

रामचन्द्र (अनन्तर परशुरामजीके चरणोंमें गिरकर) हे सत्य ब्रह्म और शारी-रिक तपके निधान भगवन् ! आपमें ऐसी कौन बात है जो अलौकिक नहीं अर्थात् सबही अलौकिक है, आपका जन्म जमदग्नि ऋषिसे हुआ है, प्रसिद्ध भगवान् पिनाकधारी आपके गुरु हैं, और आपकी जिस वीरताका वाणियोंसे कहना नहीं बन सकता वह आपके कर्त्तव्योंसेही प्रकट होरही है, और आपने तो सातों समुद्रोंसे घिरी हुई सकल पृथ्वीको निष्कपट भावसे दानके द्वारा त्याग दिया ॥ ५३ ॥

सदयं परशुरामः ।

माता का न शिशोर्वचांसि कुरुते दासीजनोक्तानि या
कस्तातः प्रमदाप्रतारितमतिर्जानाति कृत्यं न यः ।
कश्चायं भरतश्रियामविधिना यो राजते दुर्नयो
व्यासेधार्थमधिज्यधन्वनि मयि श्रीरामभृत्ये स्थिते ॥ ५४ ॥

परशुराम (दयामें भरकर) ऐसी कौनसी माता है जो दासीजनोंकी कही हुई अपने बालककी बातोंको पूरा नहीं करती ? ऐसा कौन पिता है जो स्त्रियोंसे अपनी बुद्धिको ठगाकर करने न करने योग्य कार्यको नहीं जानता है, और धर्मयुद्ध तथा

विद्याके प्रभावसे होनेवाले अन्यायको दूर करनेके लिये धनुष चढाये रहनेवाले मुझ आपके सेवकके होते हुए भरतवंशी राजाओंका अन्याय कौन वस्तु है ? ॥ ५४ ॥

ज्ञात्वावतारं रघुनन्दस्य स्वकीयमालिङ्गय ततोऽवगाढम् ।
विन्यस्य तस्मिञ्जमदग्निसूनुस्तेजो महत्क्षत्त्रवधान्निवृत्तः ५५॥

जमदग्निकुमार परशुरामजी रघुनन्दन रामचन्द्रजीको अवतार जानकर और उनको दृढताके साथ हृदयसे लगा फिर अपना बडा तेज उनमें रखकर क्षत्रियोंके वधसे निवृत्त हुए ॥ ५५ ॥

रामविवाहवर्णनम्-

निःसाणमर्दलरसालगभीरभेरीझङ्कारतालरवकाहलनादजालैः ॥
पूर्णं बभूव धरणीगगनान्तरालं पाणिग्रहे रघुपतेर्जनकात्मजायाः ५६

(श्रीरामचन्द्र जी के विवाह का वर्णन-, श्रीरामचन्द्र जी के साथ जानकी जी का विवाह होते समय पृथ्वी और आकाश का मध्यभाग निसान ढोल रसाल नामक बाजों के शब्द और घहराते हुए नगाडों के शब्द से मिले हुए अनेकों बाजों के शब्दों से भरगया ॥ ५६ ॥

रामे श्यामे सकामे स्पृशति जनकजापाणिपद्मं प्रदत्तं ।
पित्रा नेत्रालिपद्मे प्रवरपुरवधूमण्डलानां मुहूर्ते ।
तत्पाणिस्पर्शसौख्यं परमनुभवती सच्चिदानन्दरूपं
तत्रासीद्बाणभिन्ना रमणरतिपतेर्योगनिद्रां गतेव ॥ ५७ ॥

जिस समय पिता जनक जी के दिये हुए जानकी के कर कमल को श्यामसुन्दर सकाम श्रीरामचन्द्र जी ने स्पर्श किया उस क्षण में देवताओं की स्त्रियों के कमल-नयन खिल उठे और सच्चिदानन्द श्रीरामचन्द्र जी के हाथ का स्पर्श होने के परम सुख को अनुभव करती हुई सीता जी सकल जगत् को रमण करानेवाले कामदेव के बाण से विंधकर योग निद्रा को प्राप्त हुईसी होगई ॥ ५७ ॥

वैवाहिकं कुशिकनन्दनजामदग्न्यं
वाल्मीकिगौतमवसिष्ठपुरोहिताद्यैः।
रामो विधिं सह समाप्य सलक्ष्मणस्तै-
रानन्दयञ्जनकजां स्वपुरं जगाम ॥ ५८ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके जानकी स्वयंवरोनाम प्रथमोऽङ्कः ॥ १ ॥

लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी विश्वामित्र, परशुराम, वाल्मीकि, गौतम, वशिष्ठ, और पुरोहित शतान्द के द्वारा विवाह की विधि को समाप्त करके जनककुमारी को आनन्दित करते हुए अपनी आयोध्यापुरी को चले गये ॥ ५८ ॥

श्रीहनुमन्नाटकभाषाटीकामें जानकी स्वयंवर नामक प्रथम अङ्क समाप्त।

द्वितीयोऽङ्कः।

प्राप्यायोध्यां स्वजनपरमोत्साहसंभावनाभि-
र्नत्वा मूर्ध्नाऽखिलगुरुजनं सीतया लक्ष्मणेन।
रामो यामत्रयमपि कथं मारनाराचभिन्नो
नीत्वा सीतां किमिति तुरगांस्ताडयामास दण्डैः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी अपने कुटुम्बियोंके परम उत्साहके आदरोंके साथ अयोध्यामें पहुँचकर तथा सीता और लक्ष्मणको साथ लिये सकल गुरुजनोंको मस्तकसे प्रणाम कर और कामदेवके बाणोंसे विद्ध होनेके कारण किसी प्रकार दिनके तीन पहरोंको विताकर सीताजीको लिये हुए अश्वशालामें गये और तहां दण्डोंसे घोडोंको ताडने लगे ॥ १ ॥

सर्वलक्षणोपेतान्देवभूपालयोग्यान्मेदुरमन्दुरायां तुरगानवलोक्य मारज्वराकुलितचित्तभ्रान्त्या वधूपुत्रयोर्मङ्गलावलोकनायागतस्य भगवतस्तरणेः किरणमालिनस्तुरगा इमे स्वभाव

तेजस्विनस्तत्ताडनमसोढारस्ताडिताः पुनःपुनर्भगवन्तं भास्करं द्रुतगत्यास्ताचलं नयन्त्विति बुद्धा दाशरथिर्जनकपुत्री च दण्डाघातैस्तुरगांस्ताडयामास निशायां प्रौढायां शीघ्रमावयोः संगमो भवत्वित्यभिप्रायः ॥

सकल लक्षणोंसे युक्त देवता और राजाओंके योग्य घोडोंको चित्र लिखित घुडसालमें देखकर, कामदेवकी पीडाके कारण व्याकुल हुए चित्तकी भ्रान्तिसे, पुत्रवधू और पुत्रका मङ्गल देखनेके निमित्त आये हुए भगवान् सूर्यके स्वभावसेही तेजस्वी यह घोडे इनके ताडनको न सहते हुए वार २ ताडित होकर भगवान् भास्करको शीघ्रतासे अस्ताचलको प्राप्त करेंदेंगे, ऐसा जानकर दशरथकुमार और जानकीजी दंडोंके प्रहारसे घोडोंको प्रहारने लगे, अभिप्राय यह था कि–शीघ्रही प्रौढरात्रिमें उन दोनोंका समागम हो ॥

अस्तं याते मुकुलनलिनीबान्धवे सिन्धुपुत्रे
प्राचीभागे प्रमदमुदिते पक्वनारिङ्गपिङ्गे ।
रामं कामं गुरुजनगिरा मन्दिरं सुन्दरं स्वं
रम्भोरुस्तं जनकतनया नन्दयन्ती जगाम ॥ २ ॥

मुँदी हुई नलिनीको खिलानेवाले सूर्यके अस्त होनेपर और पूर्वभागमें पकीहुई नारंगीके समान पीले वर्णके चन्द्रमाके उदय होनेपर सास आदि गुरुजनोंके कहनेसे इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको आनन्दित करती हुई रम्भोरु जनककुमारी अपने सुन्दर मन्दिरमें गईं ॥ २ ॥

प्राचीभागे सरागे तरणिविरहिणि क्रान्तमुद्रे समुद्रे
निद्रालौ नीरजालौ विकसितकुमुदे निर्विकारे चकोरे ।
आकाशे सावकाशे तमसि शममिते कोकलोके सशोके
कंदर्पेऽनल्पदर्पे वितरति किरणाञ्छर्वरीसार्वभौमः ॥ ३ ॥

सूर्यकी वियोगिनी पूर्वदिशाके लाली युक्त होनेपर, समुद्रके वेलाको त्यागनेपर, कमलोंके मुँद जानेपर, कुमुदोंके खिलनेपर, चकोरके प्रसन्न होनेपर, आकाशके अवकाश पानेपर, अन्धकारके शान्त होनेपर, चकोरोंके समूहके शोकयुक्त होनेपर रात्रिका चक्रवर्ती राजा चन्द्रमा अपनी किरणोंको डालता है ॥ ३ ॥

भविष्ये रामशापेत्यन्तनिकटवर्तिनि कोकलोकानामकस्मा-
न्महोत्पातनिमित्तं पार्श्वस्थितानामपि प्रियाणामनवलोकतः
शोकसंभवः ॥

होनहार रामके शापके अत्यन्त निकटवर्ती होनेपर चकवोंके समूहको अकस्मात् महान् उत्पातका कारण, समीपमें स्थित भी प्रियजनोंको न देखनेसे शोक उत्पन्न हुआ ।

स्वैरं कैरवकोरकान्विदलयन्यूनां मनः खेदय-
न्नम्भोजानि निमीलयन्मृगदृशां मानं समुन्मूलयन् ।
ज्योत्स्नां कन्दलयंस्तमः कवलयन्नम्भोधिमुद्वेलय-
न्कोकानाकुलयन्दिशो धवलयन्निन्दुःसमुज्जृम्भते ॥ ४ ॥

अपनी इच्छानुसार चन्द्रविकाशी कमलोंकी कलियोंको खिलाता, तरुण स्त्री पुरुषोंके मनको सन्ताप देता, कमलोंको मूँदता, मृगनयनियोंके मानको उखाडता चांदनीको छिटकाता, अन्धकारको ग्रसता, समुद्रको झकोरता, चकवोंको व्याकुल करता, और दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ, चन्द्रमा उदयको प्राप्त होता है॥४॥

अद्यापि स्तनतुङ्गशैलशिखरे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
उद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणा-
त्फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणी कृपाणं शशी ॥ ५ ॥

मेरा उदय होनेपर भी यह मान स्तनरूप ऊँचे शिखरवाले स्त्रियोंके हृदयमें बैठना चाहता है, इसको धिक्कार है । इस प्रकार क्रोध करके लाल २ हुआ और उदय

होती हुई बडी २ किरणें रूप हाथोंको बढाता हुआ यह चन्द्रमा उदय होतेही खिलनेवाले चन्द्रविकासी कमलोंकी कलीरूप म्यानेंमेंसे निकलती हुई भौरोंकी पंक्ति रूप तलवारको खैंच रहा है ॥ ५ ॥

यातस्यास्तमनन्तरं दिनकृतो वेषेण रागान्वितः
स्वैरं शीतकरः करं कमलिनीमालिङ्गितुं योजयन् ।
शीतस्पर्शमवाप्य संप्रति तया युक्ते मुखाम्भोरुहे
हास्येनैव कुमुद्वतीवनितया वैलक्ष्यपाण्डूकृतः ॥ ६ ॥

अथवा अस्तको प्राप्त हुए सूर्यके वेष करके लाल हुआ स्वच्छन्द विचरनेवाला, यह चन्द्रमा कमलिनीको आनन्दित करनेके निमित्त युक्ति रचता हुआ शीत स्पर्शको पाकर इस समय उसके मुखरूपी पुष्पको मूँद लेनेपर कुमुदिनी रूप अपनी स्त्री करके खिलने रूप हास्यके द्वाराही दिये हुए उलाहनेकी अधिक लज्जासे पीला पड़ गया है ॥ ६ ॥

कर्पूरैः किमपूरि किं मलयजैरालेपि किं पारदै-
रक्षालि स्फटिकान्तरैः किमघटि द्यावापृथिव्योर्वपुः ।
एतत्तर्कय कैरवक्लमहरे शृङ्गारदीक्षागुरौ
दिक्कान्तामुकुरे चकोरसुहृदि प्रौढे तुषारत्विषि ॥ ७ ॥

चन्द्र विकाशी कमलोंके परिश्रमको हरनेवाले शृंगारकी रचना करनेमें चतुर दिशारूप स्त्रीके दर्पण समान और चकोरके मित्र वर्फके समान श्वेतकान्तिवाले चन्द्रमाके पूर्णरूपसे प्रकाश करनेपर आकाश और पृथ्वीका शरीर क्या कपूरकी धूलियोंसे भर गया ? क्या चन्दनोंसे लिप गया ? क्या पारेसे धो दिया गया ? अथवा बिल्लौरकी शिलाओंसे जड दिया गया ॥ ७ ॥

अमृतममृतरश्मेर्मण्डलस्यानुभूय
द्विजचतुरचकोर प्रीतिरङ्गारकेषु ।
प्रभवति भवदीया चेद्विधातुर्विधानं
तदिह पुनरपि स्यात्कोऽन्यथाकर्तुमीशः ॥ ८ ॥

अरे पक्षियों में चतुर चकोर! यदि अमृतमय किरणोंवाले चन्द्रमण्डल को अमृत का स्वाद लेकर भी तेरी प्रीति अंगारों में होती है तो इस जगत् में विधाता के कर्तव को फिर उलटने के लिये कौन समर्थ होसक्ता है ॥ ८ ॥

चक्रक्रीडाकृतान्तस्तिमिरचयचमूस्फारसंहारचक्रं
कान्तासंहारसाक्षी गगनसरसि यो राजते राजहंसः ।
सम्भोगारम्भकुम्भः कुमुदवनवधूबोधनिद्रादरिद्रो
देवः क्षीरोदजन्मा जयति रतिपतेर्बाणनिर्वाणशाणः ॥ ९ ॥

अब पिंजरेमें बैठी हुई मन्दिर में की मैना सखियों के अपने २ स्थान में जाने के लिये आशीर्वाद पढती है, चकवों की क्रीडा को यमराजरूप अन्धकार के समूह की सेना के विस्तार का नाश करने के लिये चक्ररूप स्त्रियों की पीडा का साक्षी सम्भोग के आरम्भ का सूचक चन्द्रविकाशी कमलों के वनरूप वधू को जगाने के कारण निद्रा न देनेवाला कामदेव के बाणों को तीखा करने का सानरूप अथवा कामदेव के बाणों को छोडने में सहायता करनेवाला क्षीरसमुद्र से उत्पन्नहुआ चन्द्रमा आकाशरूप सरोवर में राजहंस की भाँति शोभा पाता है, वह जयको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

इत्याकर्ण्य चन्द्रमण्डलशाणे शाणोत्तीर्णो रतिपतेर्बाणो जानकीरामचन्द्रयोर्वक्षःस्थले निपतति, इति श्लोकाभिप्रायमवगम्य निष्क्रान्तः सर्वं आलिजनः । अत्रापि तरुणरात्रौ शुकसारिकादीनां पक्षिणां मधुरस्वरैर्मदनोर्मिः संसूचिता ॥

रामः—

अङ्के कृत्वा जनकतनयां द्वारकोटेस्तलान्ता-
त्पर्यङ्काङ्के विपुलपुलकां राघवो नम्रवक्राम् ।
बाणान्यच्च प्रवदति जनः पञ्चबाणोऽप्रमाणै-
र्बाणैः किं मां प्रहरति शनैर्व्याहरन्ती जगाम ॥ १० ॥

ऐसा सुनकर चन्द्रमण्डलरूपी सान से तेज हुआ कामदेव का बाण जानकी और श्रीरामचन्द्र के वक्षःस्थल में पडता है, ऐसे श्लोक के अभिप्राय को समझ कर सकल सखियों का समूह तहाँ से चलागया ऐसी तरुण रात्रि में भी तोते मैंना आदि पक्षियों की मीठी कूकों से कामदेव की तरंग सूचित की ।

राम-जिन का शरीर रोमाञ्चित होरहा है, और मुख नीचे को नम रहा है; ऐसी जानकी को द्वार की दहलीज से गोद में भरकर रघुनाथ जी ने पलंग पर पहुंचाया । संसार कामदेव के पाँच बाण कहता है, परन्तु वह मुझ को असंख्य बाणों से क्यों प्रहार कररहा है, ऐसा धीरे से कहती हुई जानकी भी चली गई ॥१०॥

गाढंगाढं कमलमुकुलं पुण्डरीकाक्षवक्षः-
पीठं काठिन्यमपि कुचयोर्जानकी मानकीर्णा ।
पूर्णा कामैः शिथिलमनिलस्यागमायाचकार
नीतं स्फीतं सदयहृदयं स्वामिनालिङ्ग्य मत्वा ॥ ११ ॥

और मुझ को स्पर्श न करो, मुझको स्पर्श न करो इस प्रकार कहनेलगी । मान को करनेवाली और कामदेव के आवेशों से भरी हुई जानकी अतिगाढ अलिङ्गन के समय कमलनेत्र श्रीरामचन्द्र जी के वक्षःस्थल रूप शिला को कमल के समान कोमल और अपने स्तनों को कठिनता को मान कर पवन आने के लिये हृदय को शिथिल करती हुई और स्वामी श्रीरामचन्द्र जी ने गाढ आलिङ्गन करके दयायुक्त हृदय के साथ जानकी को स्फीत नामक चुम्बन कराया ॥ ११ ॥

जानकीरामचन्द्रयोः-

अन्योन्यं बाहुपाशग्रहणरसभराशीलिनोस्तत्र यूनो-
र्भूयोभूयः प्रभूताभिमतफलभुजोर्नन्दतोर्जात एषः ।
संसारो गर्भसारो नव इव मधुरालापिनोः कामिनोर्मां
गाढं चालिङ्ग्य गाढं स्वपिहि नहि नहीति च्युतो बाहुबन्धः१२॥

(जानकी और रामचन्द्रजीकी क्रीडा) परस्पर कण्ठमें भुजलताओंके डालनेके परम रसको जाननेवाले बार २ परम इच्छित फलको प्राप्त हुए क्रीडा करते हुए तिन दोनों युवा अवस्थावालोंको यह संसार, सारयुक्त नया सा होगया । (राम) तू मुझको गाढ आलिंगन करके शयन कर । (सीता) नहीं नहीं-इस प्रकार मधुर वार्त्ता करनेवाले उन दोनों कामियोंकी भुजाओंका बन्धन शिथिल होगया ॥ १२ ॥

वक्त्रे ततः फणिलतादलवीटिकां स्वे
विन्यस्य चन्दनघनावृतपूगगर्भाम् ।
रामोऽब्रवीदयि गृहाण मुखेन बाले
तच्छद्मना तदधरं मधुरं प्रमातुम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी खैर कपूर और सुपारीसे युक्त नागवल्लीके पत्ते (पान) की बीडीको अपने मुखमें रखकर उसी बहानेसे जानकीके अधरकी मधुरताको ग्रहण करनेके निमित्त कहने लगे कि हे प्रिये ! अपने मुखसे इसको ग्रहण कर ॥ १३ ॥

मन्दं मन्दं जनकतनया तां चतुर्धा विधाय
स्वैरं जह्रे तदधरमधु प्रेमतो मीलिताक्षी ।
मेने तस्यास्तदनु कवलान्धर्मकामार्थमोक्षान्
रामः कामं मधुरमधरं ब्रह्म पीत्वापि तस्याः ॥ १४ ॥

प्रेमसे नेत्रोंको मूँदे हुई जानकीने उस बीडीको चार टुकडे करके धीरे धीरे प्रेमके साथ अपनी इच्छानुसार श्रीरामचन्द्रजीके अधरकी माधुरीको ग्रहण किया और उस बीडीके चार ग्रासोंको धर्म अर्थ काम और मोक्षरूप माना । श्रीरामचन्द्रजीने भी तिस जानकीके मधुर अधरको इच्छानुसार पीकर ब्रह्मप्राप्तिके समान सुख माना ॥ १४ ॥

भाति स्म चित्तस्थितरामचन्द्रं सारुन्धती निर्गमशंकयेव ॥
स्तनोपरि स्थापितपाणिपद्मा संजातनिद्रा सरसीरुहाक्षी १५ ॥

निद्राके वशीभूत हुई कमलनयनी जानकी अपने स्तनोंके ऊपर कर कमलको रक्खे हुए ऐसी शोभाको प्राप्त हुई मानों चित्तमें स्थित श्रीरामचन्द्रजीको निकलकर चले जानेके संदेहसे रोके हुए है ॥ १५ ॥

रामः–

(तत्र मैथिलसुतोरःस्थलनिक्षिप्तयक्षकर्दमे सानन्दपतितभ्रमर-मालोक्य)

मदनदहनशुष्यत्कान्तकान्ताकुचान्तर्हृदि मलयजपंके गाढ-बद्धाखिलाङ्घ्रिः । उपरि विततपक्षो लक्ष्यतेऽलिर्निमग्नः शर इव कुसुमेषोरेष पुंखावशेषः ॥ १६ ॥

रामचन्द्र (उस समय जानकीके वक्षःस्थलपर लगे हुए सुगन्धद्रव्योंके लेपनमें आनन्दके साथ पडते हुए भौंरेको देखकर) कामदेवके तापसे सूखते हुए सुन्दर प्रियाके स्तनोंके मध्यभाग हृदयमें चन्दनके लेपनपर अपने सब चरणोंको गाडनेवाला ऊपर परोंको फैलाये हुए यह भौंरा, जिसके पर ऊपर शेष रह गये हों ऐसे विंधे हुए कामदेवके वाणके समान प्रतीत होरहा है ॥ १६ ॥

तत्रावसरे–

पृथुलजघनभारं मन्दमान्दोलयन्ती
मृदुचलदलकाग्रा प्रस्फुरत्कर्णपूरा ।
प्रकटितभुजमूला दर्शितस्तन्यलीला
प्रमदयति पतिं द्राग्जानकी व्याजनिद्रा ॥ १७ ॥

उसी समयमें अति पुष्ट जंघाओंके भारको धीरेसे हिलाती हुई, जिसके केशोंके अग्रभाग विखरे हुए हैं, दमकते हुए कर्णफूलोंवाली, भुजाओंके मूल भागको प्रकट करती हुई, और स्तनोंकी लीलाको दिखाती हुई कुछ भावको दिखानेके लिये बनावटी निद्रा कीहुई जानकी अपने स्वामीको प्रसन्न करती है ॥ १७ ॥

तामपि दूरस्थां मन्वानः–

तदनु जनकपुत्रीवक्त्रमालोक्य रामः
पुनरपि पुनरेवाघ्राय चुम्बन्न तृप्तः ।

स्तनतटभुजमूलोरःस्थलं रोमराजि-
मदनसदनमासीच्चुम्बितं पञ्चबाणः ॥ १८ ॥

(इस पर भी अपनेसे दूर स्थित हुई मानते हुए) तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी जानकीके मुखको निरखकर बार २ सूँघ और चुम्बन करके भी तृप्त न हुए तथा स्तनोंके निकट भुजाओंके मूलसे वक्षःस्थल रोमावली और मदनसदनकाभी चुम्बन किया जिसको कि पंचबाण चुम्बन कहते हैं ॥ १८ ॥

श्रीरामपादाः-

निद्रालुस्त्रीनितम्बाम्बरहरणरणन्मेखलारावधाव-
त्कंदर्पारब्धबाणव्यतिकरतरलाः कामिनो यामिनीषु ।
ताटंकोपान्तकान्तग्रथितमणिगणो द्गच्छदच्छप्रभाभि-
र्व्यक्ताङ्गास्तुङ्गकम्पा जघनगिरिदरीमाश्रयन्ते श्रयन्ते ॥१९॥

कामी श्रीरामचन्द्रजी--रात्रियोंमें निद्राके वशीभूत हुई प्रियाकी कमरके वस्त्रको हटानेसे शब्द करती हुई तागडीके शब्दसे दौडनेवाले कामदेवके चढाये हुए बाणके भयसे अपनी रक्षा करनेको घबडाये हुए करणफूलके चारों ओर जडे हुए मणियोंके समूहोंसे निकलती हुई कान्तियों करके जिनके देह प्रकट होगये हैं इसी कारण अत्यन्त कांपते हुए जंघारूप पर्वतकी गुफाका आश्रय करते हैं ॥ १९ ॥

जानकी प्रबुद्धा-

स्पृहयति च बिभेति प्रेमतो बालभावा-
न्मिलति सुरतसङ्गेऽप्यङ्गमाकुञ्चयन्ती ।
अहह नहि नहीति व्याजमप्यालपन्ती
स्मितमधुरकटाक्षैर्भावमाविष्करोति ॥ २० ॥

जानकी (जगकर) प्रेमसे इच्छा करती है और बालभावके कारण डरती भी है सुरतके प्रसंगमें शरीरको सकोडती हुई मिलती भी है । अहह ह नहीं २ इस प्रकार ऊपरके चित्तसे कहती हुई मुसकुरानसे मधुर कटाक्षोंके द्वारा रतिभावको प्रकट करती है ॥ २० ॥

निधुवनघनकेलिग्लानिभावं भजन्त्या
रमणरभसशंकातंकिचेतः प्रियायाः ।
अधरदशनसर्पत्सीत्कृताया धृतायाः
पिब पिब रसनां मे कामतो निर्विशंकम् ॥ २१ ॥

हे प्रिये ! सुरतकी घनी क्रीडासे ग्लानिभावको प्राप्त होनेवाली रमणके वेगकी शंकासे भयभीत चित्तवाली, ओठको खण्डित करनेसे जिसके सिसकारी निकल रही है ऐसी पकडी हुई मेरी रसनाको तुम निश्शंक होकर वार वार यथेच्छ पीओ ॥२१॥

रामः सानन्दं जानकीवाग्विलासमुल्लासयति लालित्य-शालिनालापेन—

वाचां गुम्फेन रम्भाकरकमलदलोदारसञ्चारचञ्च-
त्तन्त्रीसंजातमञ्जुस्वरसरसतरोद्गारताराक्षरेण ।
प्रत्यग्रोन्निद्रनाकद्रुमकुसुमनवामोदसंवादमैत्री-
पात्रीभूतेन धात्रीं सुरभयति चरस्थावरां रामराज्ञी ॥ २२ ॥

रामचन्द्र (आनन्दके साथ जानकीके वाग्विलासको ललित भाषणसे शोभित करतेहैं) रामचन्द्रकी रानी जानकी रम्भाके करकमल अंगुली रूप पत्तोंके सुन्दर चलनेसे वजती हुई वीणाके स्पष्ट मनोहारि स्वरसे भी अधिक स्वादवाले उद्गार नामक गानमें स्पष्ट अक्षरयुक्त तत्काल खिले हुए कल्पवृक्षके फूलोंकी नई सुगन्धिरूप वचनचातुरीकी पात्र वाणियोंके गुच्छोंसे स्थावर और जङ्गमोंसे भरी हुई पृथ्वीको सुगन्धित कर रही है ॥ २२ ॥

अथ रामस्तामाह्लादयति—

अरण्यं सारङ्गैर्गिरिकुहरगर्भाश्च हरिभि-
र्दिशो दिङ्मातङ्गैः श्रितमपि वनं पंकजवनैः ।
प्रियाचक्षुर्मध्यस्तनवदनसौन्दर्यविजितैः
सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरसरणम् ॥ २३ ॥

रामचन्द्र (अब जानकीको रिझाते हैं) हे प्रिये ! तेरे नेत्र, कमर, स्तन और मुखकी सुन्दरताने जिनको जीत लिया है, ऐसे हिरनोंने वनका, सिंहोंने पर्वतोंकी गुफाओंके मध्यभागोंका, दिशाओंके हाथियोंने दिशाओंका और कमलोंके समूहने जलका आश्रय कर लिया है, क्यों कि सत्पुरुषोंके मानका खण्डन होनेपर या तो उनका मरण होना अच्छा है, नहीं तो कहीं दूरको तो चलाही जाना उचित हैं। (इसी कारण हरिणादिक तेरे नेत्र आदिसे अपनी मान हानि होती देख वन आदि दूर देशोंमें जा छिपे हैं) ॥ २३ ॥

वक्रं वनान्ते सरसीरुहाणि भृङ्गाक्षमालां जगृहुर्जपाय ।
एणीदृशस्तेऽप्यवलोक्य वेणीमङ्गं भुजङ्गाधिपतिर्जुगोप ॥ २४ ॥

कमलोंने तुझ मृगनयनीके मुखको देखकर (ऐसीही सुन्दरता पानेकी अभिलाषासे) जलके भीतर जपरूप अनुष्ठान करनेके लिये भौरोंकी पंक्तिरूप रुद्राक्षकी मालाको ग्रहण कर लिया है। और सर्पराज़ वासुकिने भी तेरी वेणीको देखकर अपने शरीरको (पातालमें जाकर) छुपाया है ॥ २४ ॥

स्वर्णं सुवर्णं दहने स्वदेहं चिक्षेप कान्तिं तव दन्तपंक्तिम् ।
विलोक्य पूर्णं मणिबीजपूर्णं फलं विदीर्णं ननु दाडिमस्य ॥ २५ ॥

हे प्रिये ! सुन्दर वर्णवाले भी सोनेने तेरी कान्तिको देखकर अपने शरीरको अग्निमें डाल दिया । और ऐसा प्रतीत होता है कि मणियोंकी समान दानोंसे भरा भी अनारका फल तेरे दांतोंकी पंक्तिको देखकर (लज्जासे) फटगया है ॥ २५ ॥

वदनममृतरश्मिं पश्य कान्ते तवोर्व्या-
मनिलतुलनदण्डेनास्य वार्धौ विधाता ।
स्थितमतुलयदिन्दुः खेचरोऽभूल्लघुत्वा-
त्क्षिपति च परिपूर्त्यै तस्य तारा किमेताः ॥ २६ ॥

हे प्रिये ! जब ब्रह्माजीने भूतलपर स्थित तेरे मुख और क्षीरसमुद्रके भीतर अमृतमय किरणवाले चन्द्रमा को पवनरूप तुला (तराजू) की दण्डी के द्वारा तोला तो चन्द्रमा तेरे मुख की अपेक्षा हलका होने के कारण आकाश को

उठगया तब उस कमी को पूरा करने के लिये ब्रह्मा जी ने यह सकल तारागण चढाये; परन्तु यह हैं ही कितने ? अर्थात् तेरा मुखगुणों के गौरव से यहाँ ही रहा और तारागणों सहित भी चन्द्रमा गुणरूप गौरव से हीन होने के कारण ऊपर को ही चला गया ॥ २६ ॥

जानकी—सानन्दं सोत्कंठा च प्राणवल्लभमाह्लादयन्ती—

रमणचरणयुग्मं तावकं भावयित्वा
मधुरगिरमुदारं रामदासी ब्रवीमि ।
कृतमपि गुरु धात्राऽऽस्वाद्य निर्णीयतां मे ।
वदनममृतरश्मेर्मण्डलं वा प्रियेण ॥ २७ ॥

जानकी—(आनन्द के साथ उत्कण्ठित होकर प्राणनाथ को रिझाती हुई) हे नाथ ! आप के दोनों चरणों का ध्यान करके मैं आप की दासी उदारता युक्त मधुर वचन कहती हूँ कि—हे प्रिय ब्रह्मा ने तो मेरे मुख को गौरवयुक्त कर ही दिया है, परन्तु अब आप भी मेरे मुख और अमृतभरी किरणोंवाले चन्द्रमंडल का स्वाद लेकर निश्चय करडालिये (देखिये स्वाद किस में अधिक है) ॥ २७ ॥

रामः—(सानन्दम्)

सीतां मनोहरतरां गिरमुद्गिरन्ती-
मालिङ्ग्य तत्र बुभुजे परिपूर्णकामः ।
रामस्तथा त्रिभुवनेऽपि यथा न कोऽपि
रामां भुनक्ति बुभुजे न च भोक्ष्यतीशः ॥ २८ ॥

रामचन्द्र—(आनन्दित होकर) परम मनोहर वचन उच्चारण करती हुई सीता को हृदय से लगाकर परिपूर्णकाम राम ने सीता को इस प्रकार सेवन किया कि जैसे कोई स्वामी बनकर स्त्री को न अब भोगता है, न पहिले भोगा और न आगे को भोगेगा ॥ २८ ॥

मृदुसुरभिसुवर्णस्फीतकक्षापुटोद्य-
च्छलितभुजलतायाः संपुटालिङ्गितायाः ।
सुरतरसवशाया राघवस्य प्रियाया
हरति हृदयतापं कापि दिव्या स्तनश्रीः ॥ २९ ॥

कोमल और सुगन्धित सुवर्ण की समान सुरूप बगलों में से निकली हैं, सुन्दर भुजलता जिस के ऐसी, सम्पुट नामक आलिङ्गन की विधि से हृदयमें लगाई हुई और रतिके रस से वश में हुई प्रिया जानकी के स्तनों की अकथनीय कोई दिव्य शोभा श्रीरघुनाथ जी के हृदय की कामवेदना को हरती है ॥ २९ ॥

आगामिदीर्घविरहश्चिरमाविरासी-
ज्ज्ञात्वैव रङ्गभवनेऽद्भुतकामकेलिः ।
श्रुत्वा तयोर्गिरमपूजयदोतुपत्नी-
मुद्गीर्णकर्णसरणां चरणायुधानाम् ॥ ३० ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके रामजानकी विलासो द्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥

वनवासरूप लम्बा वियोग होनेवाला है अर्थात् वनवास के नियमानुसार ऐसे आनन्द के अनुभव का अभाव होनेवाला है, मानो ऐसा जानकर ही उन दोनों की कामक्रीडा चिरकाल तक प्रकट होती रही इतने ही में मुरगे और उन के शब्द को सुनकर उधर को ही कान लगाकर जानेवाली बिल्ली का शब्द सुनकर जानकी ने बिल्ली का पूजन किया (अर्थात् कामकेलि को रोकनेवाले प्रातःकाल को सूचित करते हुए मुरगों को खाने के लिये दौडनेवाली बिल्ली को पुचकारनारूप सत्कार इसकारण किया कि–इस के द्वारा मुरगों का अभाव होने पर प्रातःकाल न होगा और रात्रि अनन्त होजायगी जिस से कि स्त्रियें अपने पतियों के साथ निरन्तर सुरत सुख को पावेंगी) ॥ ३० ॥

इति श्रीहनुमन्नाटक भाषाटीकामें रामजानकी विलास नामका द्वितीय अंक समाप्त ।

तृतीयोऽङ्कः ।

भुक्त्वा भोगान्सुरंगान्कतिपयसमयं राघवो धर्मपत्न्या
सार्धं वर्धिष्णुकामः श्रवणमुनिपितुः प्राप हा! शापकालम् ।
धत्ते तस्मिन्विवस्वान्मलिनकिरणतां हा महोत्पातहेतो-
रुल्कादण्डः प्रचण्डः प्रपतति नभसः कम्पते भूतधात्री ॥ १ ॥

भक्तों के पापों का नाश करनेवाले श्रीरामचन्द्र जी धर्मपत्नी सीता जी के साथ कुछ समयतक आनन्द पूर्वक भोगों को भोग, मन की अभिलाषा के पूरा विनाहुए ही श्रवणमुनि के पिता यज्ञदत्त नामक वैश्य तपस्वी के शापके समय को प्राप्त हुए वह समय आते ही सूर्य की किरणें मलीन होगईं । हा ! उस महोत्पात के कारण आकाश से वडीभारी अंगारों की वर्षा होनेलगी और पृथ्वी काँप उठी ॥ १ ॥

दिग्भागो धूसरोऽभूदहनि बहुतरस्फारताराः स्फुरन्ति
स्वर्भानोर्भानवीयं ग्रहणमसमये रौधिरी बिन्दुवृष्टिः ।
मध्याह्नोर्ध्वास्यकोशश्वगणरुतमतिस्फीतफेरुप्रचारो
वारंवारं गभीरप्रलय इव महाकालचीत्कारघोरः ॥ २ ॥

दिशाओंका मध्यभाग धुमेला होगया दिन में ही वडे २ तारे चमकनेलगे । असमय में राहु से सूर्य का ग्रहण होने लगा रुधिर की बूंदों की वर्षा होनेलगी मध्याह्नकाल में कुत्ते ऊपर को मुख करके रोनेलगे । गीदड अधिकता के साथ इधर उधर फिरने लगे । वारंवार घोर प्रलय की समान महाकाल का घोर चीत्कार शब्द होने लगा ॥ २ ॥

कैकेयी-(आत्मगतम्)

प्रातः किल मद्वाग्बन्धकालस्तर्हि द्रुतं राजानं भरतराज्यं प्रार्थयामि न खलु कालक्षेपः श्रेयसे (रहसि उपगम्य प्रकाशं) राजन्नमङ्गलीरियं वधूर्यतोऽस्या आगमनमात्रेण महोत्पाताः सम्भवन्तीति ।

तानुत्पातानवेक्ष्य क्षितिपमथ दशस्यन्दनं क्रन्दयन्ती
लोकान् शोकानलौघैः शिव शिव तरसा भस्मसात्कुर्वतीव ।
कैकेयी वाचमूचे निखिलनिजकुलाङ्गारमूर्त्तिः ससीतः
शान्त्यै पुत्रस्य राज्यं भवतु वनमभिप्रेष्यतामेष रामः ॥ ३ ॥

कैकेयी (अपने मन में) ओः मेरा अपनी वाणी से महाराज को बाँध लेने का समय आय पहुँचा, तो अब शीघ्र ही महाराज से भरतकुमार के लिये राज्य को माँगूं। निस्संदेह अब देर करने में भलाई नहीं है, (एकान्त में राजा दशरथ के समीप जाकर प्रकाशरूप से) महाराज ! यह आप की पुत्रवधू सीता सुलक्षणा नहीं है, क्योंकि इस के आने मात्र से ही कैसे बडे २ उत्पात होरहे हैं, उन उत्पातों को देख राजा दशरथ को विलाप करती हुई हे शिव ! हे शिव ! सकल लोकों को मानो शोकरूपी अग्नि के समूहों से भस्म करती हुई अपने सकल कुल को अङ्गार की मूर्ति के समान रानी कैकेयी इस वचन को कह उठी कि, यह रामचन्द्र उत्पातों से होनेवाले दोषों की शान्ति के लिये कुलक्षण सीता सहित वन को चले जायँ और मेरे पुत्र को राज्य हो ॥ ३ ॥

दशरथः सकरुणस्त्रीवचनस्वीकरणं मरणोत्साहं नाटयन्महतीं मूर्च्छामासाद्य धरणीतलमुपगतः कथमपि चेतनामुपलभ्य—

रामं कामाग्रजमिव वनं प्रस्थितं वीक्ष्य शक्तो
धर्त्तुं प्राणान् शिव शिव कथं तान्विहायाथ वाहम् ।
निर्मुक्तः स्यां वचनमनृतं तत्पुनर्नान्यथा मे
भूयाद्भूयस्तदनु वचनं हा बभाषे तथेति ॥ ४ ॥

दशरथ (बडी करुणाके साथ स्त्रीके वचनको स्वीकार करना रूप मरणका उत्साहसा दिखाते हुए बडी भारी मूर्च्छाको प्राप्त होकर भूतलपर गिरपडे। तदनन्तर बडी कठिनतासे सावधानी पाकर) कामदेवके बडे भाईसे परम सुन्दर श्रीरामचन्द्रजी को वनको जाते हुए देख हाय!हाय!!मैं अपने प्राणोंको कैसे रख सकूंगा और प्राणोंको

न छोडकर भी तो मैं झूँठा होजाऊँगा। नहीं नहीं! मेरा वचन झूँठा नहीं होना चाहिये, (कुछ देर विचार करनेके अनन्तर) हाय! हाय!! अच्छा कैकेयी! जैसा तूने कहा है वैसाही हो (अर्थात् राजा दशरथने विचारा कि यदि कैकेयीका कहना मानता हूँ तब रामके वियोगसे प्राण जाते हैं और कहना नहीं मानता हूँ तो मिथ्या भाषण होता है. चाहे प्राण चले जायँ परन्तु मिथ्याभाषण ठीक नहीं--" रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहिं पर वचन न जाई।" ऐसा विचार कैकेयीका कहना मान लिया ॥ ४ ॥

रामभरतौ स्वं स्वं कालमधिगम्य हर्षशोकौ नाटयन्तौ गुरोर्गिरा जटावल्कलच्छत्रचामरधारिणौ वनप्रस्थानराज्याभिषेकारम्भाय राजानं दशरथं नमस्कर्त्तुमवतरतः।

तत्र भरतः—

हा तात मातरहह ज्वलितानलो मां
कामं दहत्वशनिशैलकृपाणबाणः।
मन्थन्तु तान्विसहते भरतः सलीलं
हा रामचन्द्रपदयोर्न पुनर्वियोगम् ॥ ५ ॥

रामचन्द्र और भरत अपने २ समयपर रंगभूमिमें आकर हर्ष और शोकका भाव दिखाते हुए अर्थात् जब राजा दशरथने कहा कि रामचन्द्र राज्य न पाकर वनको जायँ और राज्यके अनधिकारी भरत राज्य पावें, उस समय रामचन्द्र वन जानेमें हर्ष और भरतजी उनके वियोगके कारण शोकका भाव दिखाते हुए महाराज दशरथको प्रणाम करनेके लिये आये। उस समय अपने पिता महाराज दशरथकी आज्ञासे जटा और वल्कल रूप छत्र और चामरको धारण किये रामचन्द्र और भरत दोनोंही वन गमन रूप राज्याभिषेकके लिये उद्यत हुए, उस समय भरत--

हा पितः! हा मातः! हाय हाय! चाहे जलती हुई अग्नि मुझे भलेही भस्म कर डाले, वज्र, पर्वत, तलवार और बाण मुझको भलेही मथ डालें, भरत उनको सह सक्ता है; परन्तु हाय! श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका वियोग नहीं सहा जायगा ॥ ५ ॥

मां बाधते नहि तथा गहनेषु वासो
राज्यारुचिर्जनकबान्धववत्सलस्य ।
रामानुजस्य भरतस्य यथा प्रियायाः
पादारविन्दगमनक्षतिरुत्पलाक्ष्याः ॥ ६ ॥

रामचन्द्र—मुझको अपना वनोंमें बसना वैसा कष्ट नहीं देता है, और पिता दशरथ तथा मुझमें प्रेम करनेवाले मेरे छोटे भ्राता भरतका राज्यको स्वीकार न करना भी वैसा दुःखदायक नहीं है, जैसा कि कमलनयनी प्रिया जानकीका चरण-कमलोंसे विचरनेका दुःख खटकता है ॥ ६ ॥

श्रुत्वा सुमन्त्रवचनेन सुतप्रयाणं
शापस्य तस्य च विचिन्त्य विपाकवेलाम् ।
हा राघवेति सकृदुच्चरितं नृपेण
निश्वस्य दीर्घतरमुच्छ्वसितं न भूयः ॥ ७ ॥

मन्त्री सुमन्तके कहनेसे पुत्रका वनको जाना सुनकर और तिस यज्ञदत्तके शापके परिपाकका समय विचारकर राजा दशरथने हा राम ! ऐसा एक वार कहकर लम्बा श्वास लिया और फिर श्वास भी न आया (अर्थात् एक वार हा राम ! कहकर महाराज दशरथने प्राण त्याग दिये) ॥ ७ ॥

मातस्तातः क्व यातः सुरपतिभुवनं हा कुतः पुत्रशोका-
त्कोऽसौ पुत्रश्चतुर्णां त्वमवरजतया यस्य जातः किमस्य ।
प्राप्तोऽसौ काननान्तं किमिति नृपगिरा किं तथासौ बभाषे
मद्वाग्बद्धः फलं ते किमिह तव धराधीशता हा हतोऽस्मि ॥ ८ ॥

भरत—(अत्यन्त मूर्च्छित होकर विकलता दिखाते हुए)—मातः ! पिताजी कहां गये ? **कैकेयी**—इन्द्रलोकको। **भरत**—हाय! क्यों ? **कैकेयी**—पुत्रके शोकसे! **भरत**—चारोंमेंसे कौनसा पुत्र ? **कैकेयी**—जिनके तुम छोटे भाई जन्मे थे, वह राम। **भरत**—उन राम भैयाको क्या हुआ ? **कैकेयी**—वह वनमें जा पहुँचे।

भरत-क्यों ? **कैकेयी**-महाराजकी आज्ञासे । **भरत**-उन्होंने ऐसी आज्ञा क्यों दी ? **कैकेयी**-मेरे वचनोंके बँधे हुए थे इस कारण । **भरत**-इसमें तुझे क्या फल मिला ? **कैकेयी**-तुम्हारा भूपति होना । **भरत**-हाय ! मैं मारा गया (इस प्रकार मूर्च्छित होकर फिर पृथ्वीपर गिरपडे) ॥ ८ ॥

गुरोर्गिरा राज्यमपास्य तूर्णं वनं जगामाथ रघुप्रवीरः ।
निषंगपृष्ठः शरचापहस्तस्तं लक्ष्मणो गामिव बालवत्सः ॥९॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी पिताकी आज्ञासे राज्यको त्याग शीघ्रही पीठपर तरकस लगाय हाथमें धनुष वाण लिये वनको चले गये और जैसे गौके पीछे छोटासा बच्चा जाता है तैसेही श्रीलक्ष्मणजी भी उनके पीछे २ हो लिये ॥ ९ ॥

गुर्वाज्ञापरिपालनाय च वनं संप्रस्थितं राघवं
दृष्ट्वासौ त्वरिता विदेहतनया श्वश्रूजनं पृच्छति ।
नत्वा कोसलकन्यकांघ्रियुगलं पश्चात्सुमित्रां पुन-
र्दृष्ट्वा हा शुकसारिकापिककुलं रामानुगा प्रस्थिता ॥ १० ॥

पिताजीकी आज्ञा को पालनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको वनको जाते हुए देख यह विदेह कुमारी जानकी भी शीघ्रतासे अपनी सासोंके पास जाकर बूझने लगी. पहिले कौशल्याके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके पीछे सुमित्राको भी प्रणामकर आज्ञा ली । हा ! फिर पोसे हुए तोते, मैंना, कोकिला आदि की ओर को निहारती हुई सीता अपने प्राणनाथ श्रीरामचन्द्रजीके पीछे २ चली गई ॥ १० ॥

रामे प्राप्ते वनान्तं कथमपि भरतश्चेतनां प्राप्य तातं
नीत्वा देवेन्द्रलोकं मुनिजनवचनादूर्ध्वदेहक्रियाभिः ।
भ्रातुः शोकाज्जटावानजिनवृततनुः पालयामास नन्दि-
ग्रामे तिष्ठन्नयोध्यां रघुपतिपुनरागामिभोगाय वीरः ॥११॥

श्रीरामचन्द्रजीके वनको चलेजानेपर भरतजी बडी कठिनतासे सावधानी पाकर वशिष्ठ आदि मुनियोंके कहनेसे पिता दशरथजीको और्ध्व दैहिक क्रियाओंके द्वारा

स्वर्गलोकमें पहुँचाकर और भ्राता श्रीरामचन्द्रजीके वनसे आकर फिर भोगनेके लिये वीरताके साथ अयोध्याका शासन करते रहे ॥ ११ ॥

सद्यः पुरीपरिसरेषु शिरीषमृद्वी
गत्वा जवात्रिचतुराणि पदानि सीता ।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥ १२ ॥

सिरसके फूल के समान कोमल अंगवाली सीता अयोध्या पुरीके समीपका भूमिमें शीघ्रतास तीन चार पग चलकर ही इस प्रकार वारवार कहकर कि हे नाथ! कितना मार्ग और चलना है श्रीरामचन्द्रजीके आंसुओंका प्रथम जन्म कराती हुई ॥ १२ ॥

रामः—

आदावेव कृशोदरी कुचतटीभारेण नम्रा पुन-
र्लीलाचंक्रमणं च नैव सहसे दोलाविधौ श्राम्यसि ।
स्रोतःकाननगर्तनिर्झरसरित्प्रायानपूर्वानिमा-
न्भूभागानपि भूतभैरवमृगान्वैदेहि यायाः कथम् ॥ १३ ॥

राम—प्रथमसेही कृशोदरी है, तिसपर कुचतटोंके भारसे नमी जाती है कारण क्रीडा के लिये घरमें भी नहीं फिर सक्ती थी, और झूला झूलनेके समय भी थकजाती थी, फिर जिनमें जहां तहां झरने, झाडी, गडहे, और पहाडी नदियें पडती हैं, ऐसे प्राणियोंके डरानेवाले, पशुओंसे भरे इन भूमिके प्रदेशोंमें हे वैदेही! कैसे चलसकेगी ॥ १३ ॥

अरुणदलनलिन्या स्निग्धपादारविन्दा
कठिनतनुधरण्यां यात्यकस्मात्स्खलन्ती ।
अवनि तव सुतेयं पादविन्यासदेशे त्यज निज
कठिनत्वं जानकी यात्यरण्यम् ॥ १४ ॥

हे पृथ्वि ! यह लाल दलोंवाली कमिलिनी के समान चारों ओर से चिकने चरण-कमल वाली सीता भूमि की कठिनता के कारण पग २ पर ठोकरें खाती हुई चल-रही है, इस कारण तू अपनी पुत्री के चरण रखनेके स्थान में कठोरता को त्याग दे देख यह जानकी वन को जारही है ॥ १४ ॥

पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छ्यमाना
कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति ।
स्मितविकसितगण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रं
मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता ॥ १५ ॥

मार्ग में बटोहियों की स्त्रियों ने जब आदर के साथ यह पूछा कि हे आर्ये ! यह नीलकमल के समान नेत्रवाले तुह्मारे कौन हैं ? मुख को नीचा करती हुई जानकी-ने स्पष्ट ही उत्तर देदिया अर्थात् जब जानकी ने लज्जा के कारण कुछ उत्तर न देकर नीचे को मुख करके मुस्कुरादिया तब स्त्रियें समझगई कि यह इन के पति हैं ॥ १५ ॥

घुसृणमसृणपादा गम्यते भूः सदर्भा
विरचय शिवजातं मूर्ध्नि धर्मः कठोरः ।
इति ह जनकपुत्री लोचनैरश्रुगर्भैः
पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ॥ १६ ॥

कमल की कलियों के समान कोमल चरणवाली तू कुशों से भरी हुई भूमि पर चलरही है मस्तकपर कठोर धूप है, इस कारण शिरपर छत्र और चरणोंमें पादुका धारण कर इस प्रकार पथिकोंकी स्त्रियोंने आँखोंमें आँसू भरकर जानकी की ओर को देखा और शिक्षा दी ॥ १६ ॥

तत्र चित्रकूटे जानकी सकरुणं सवाष्पम्—
मूर्ध्ना बद्धजटेन वल्कलभृता देहेन पादानतिं
कुर्वाणे भरते तथा प्ररुदितं तारस्वरैः सीतया ।

येनोद्विग्नविहङ्गनिर्गततरुर्निःसंभ्रमदः श्वापदः
शैलेन्द्रोऽपि किलैष भूरिभिरभूत्साश्रुः पयःप्रस्रवैः ॥ १७॥

(चित्रकूटपर पहुँच जानकी करुणा के साथ) मस्तकपर जटा बाँधे शरीरपर भोजपत्र लपेटे भरतजीने जब श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रणाम किया तब सीता इस प्रकार ऊँचे स्वरसे रोई कि, जिस के कारण वहां के वृक्षोंमें से पक्षी व्याकुल होकर डरगये, जंगली हिंसक जीव सुस्त होगये और यह चित्रकूट पर्वत भी मानो उसी दुःखसे बहुतसे जलके झरनेरूप आँसुओंकी धाराओंसे रोया ॥ १७ ॥

तत्रैव सुमित्रा लक्ष्मणम्प्रति–

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ पुत्र यथासुखम् ॥ १८ ॥

(वहाँ ही भरतजी के साथ मिलने को आईहुई सुमित्रा लक्ष्मण जी से कहने लगीं) कि, हे पुत्र ! अब तू रामचन्द्र जी को ही पिता के समान समझ जानकी को मुझ माता के समान समझ और वन को ही अयोध्या मान, यथा सुख के साथ यात्रा कर ॥ १८ ॥

पदकमलरजोभिर्मुक्तपाषाणदेहा–
मलभत यदहल्यां गौतमो धर्मपत्नीम् ।
त्वयि चरति विशीर्णग्रावविन्ध्याद्रिपादे
कति कति भवितारस्तापसा दारवन्तः ॥ १९ ॥

(भरत जी के लौटने पर जब रामचन्द्र जी आगे बढ़े तब सीता कहने लगी कि हे नाथ !) जब कि, गौतम ऋषि ने शाप से शिलारूप हुई अहल्या को तुम्हारे चरणकमलों की रजों से पाषाण शरीर रहित हो दिव्यशरीरवाली पाया है, तो अब जिसमें चारों ओर शिला फैली पड़ी हैं, ऐसे इस विन्ध्याचल की तलैटी पर तुम्हारे विचरने के कारण न जाने कितने २ तपस्वी स्त्रीवाले होजायँगे, अर्थात् जैसे पहिले शिलारूप भी अहिल्या दिव्यशरीरवाली होगई, तैसे ही अब जिन २

शिलाओं पर आपके चरणों का स्पर्श होगा वह भी तो दिव्य स्त्रियें बनकर ऋषि-योंकी पत्नी होजायँगी ॥ १९ ॥

वैदेही अदृष्टराजमन्दिराद्बहिर्व्यवहारतया बालभावाच्च दैव-योगात् नौकासुखमनुभूय बने चरन्ती स्थलेऽपि भारा-क्रान्ता सती नौः प्रचरतीति मन्यमानास्माभिरतः परमन-यैव सुखप्रयाणं कर्त्तव्यं न पद्भ्यामिति बुद्ध्या राममधिकृ-त्याब्रवीत ॥

उपलतनुरहल्या गौतमस्यैव शापा-
दियमपि मुनिपत्नी शापिता कापि वा स्यात् ।
चरणनलिनसङ्गानुग्रहं ते भजन्ती
भवतु चिरमियं नः श्रीमती पोतपुत्री ॥ २० ॥

विदेहकुमारी जानकी ने राजमन्दिर से बाहर का कोई व्यवहार नहीं देखा था, इस कारण तथा बालस्वभाव से जब दैववश वनवास के समय तमसा नदी को पार होते हुए नौका में बैठकर चली तब थल में भी बोझे से लदीहुई नौका चलती होगी यह समझकर हम अब आगे भी इस नौका ही में बैठकर सुख से यात्रा करेंगे, पैदल नहीं चलेंगे ऐसी बुद्धि से रामचन्द्र जी की ओर को कहने लगी गौतम ऋषि के शाप से पाषाण का शरीर पानेवाली अहल्याके समान यह नौका भी यदि शाप को प्राप्त हुई किसी मुनि की स्त्री हो तो आप के चरणक-मल के संग का उपकार मानती हुई चिरकाल तक हम को सुख देनेवाली होजाय अर्थात् आप के चरण से शापमुक्त होकर उपकार मानती हुई हमको सर्वत्र लिये फिरेगी ॥ २० ॥

दृष्ट्वातिदैन्यं जनकात्मजाया-
स्तत्रैव रामः सह लक्ष्मणेन ।

गोदावरीतीरसमाश्रितेषु
वनेषु चक्रे निजपर्णशालाम् ॥ २१ ॥

लक्ष्मण जीके साथ जातेहुए रामचन्द्र जी ने इस प्रकार जानकी की अति-दीनता को देखकर वहाँ ही गोदावरी के तट की भूमियों के वनों में अपनी कुटी बनाली ॥ २१ ॥

एषा पंचवटी रघूत्तमकुटी यत्रास्ति पंचावटी
पान्थस्यैकवटी पुरस्कृततटी संश्लेषभित्तौ वटी ।
गोदा यत्र नटी तरङ्गिततटी कल्लोलचंचत्पुटी
दिव्यामोदकुटी भवाब्धिशकटी भूतक्रियादुष्कुटी ॥२२॥

(लक्ष्मण जी उस कुटी की रमणीयता को देखकर कहउठे कि) हे रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी! बड़ के पांच वृक्षों का झुंडारूप यह पंचवटी हमारी कुटी के योग्य ही है क्योंकि इन पांचों वटों के वृक्षों की जड़ों में सरस्वती के पांच कुण्ड हैं यहां वटोहियों को जल छाया आदि मिलता है इस के दोनों ओर बड़ी सुन्दर भूमि है स्त्री पुत्रादि की माया में फँसेहुए पुरुषों के क्लेश को दूर करनेवाली औषधमय वटिकारूप हैं इस के समीप में ही गोदावरी नाचती हुई चली जारही है जिस गोदा-वरी के तटों पर तरंगें उठरही हैं सोतों में से कल्लोलों का शब्द होरहा है, पद्म की न्ध की तो यह गोदावरी मानो कुप्पी है संसारसागर की नौका है और प्राणियों को साधारण कर्मों के फलों से तो इसका मिलना ही कठिन है ॥ – ॥ इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह भी होसक्ता है कि–हे महाराज रामचन्द्र जी यह स्थान कुटी बनाने के योग्य ही है, क्योंकि–यह पृथिवी जल, तेज, वायु, और आकाश रूप पांच तत्वोंकी नाश करनेवाली है, अर्थात् यहां आकर साधना करनेवाले पुरुषों को फिर पाञ्चभौतिक शरीर धारण करना नहीं पड़ता है जहाँ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, और शब्द रूप इन्द्रियों के विषयों का जीतना सहज ही में वन पड़ता है, मोक्षमार्ग में यात्रा करनेवालों को यह पंचवटी अनुपम वटी अर्थात् विश्राम का स्थान है, यहां की वेद का प्रचार करनेवाली मुनियों की सभा प्रसिद्ध है, जिस मुनिसभा में समिधा और कुश ही सम्पत्ति मानीजाती हैं. जो मुनिसभा ज्ञानदानके द्वारा स्त्री

पुत्रादि की ममता को काटने में वज्र समान है जो त्यागी जीवों को तारने में तीर्थसमान है जिस मुनिसभा की कुंजों में इधर उधर देवता विचरते हैं जो स्वाभाविक वासनाओं को काटनेवाली है इस कारण ही संसार से तारने में नौकारूप और बहुतसे पुण्यों के विना प्राणियों को दुष्प्राप्य है ॥ २२ ॥

क्रीडाकल्पवटं विसर्पितजटं विश्वाम्बुजन्मावटं
पिष्टाण्डौघघटं धृतांघ्रिशकटं ध्वस्तक्षमासंकटम् ।
विद्युच्चारुरुचाविधूतकपटं सीताधरालम्पटं
भिन्नारीभघटं विरुग्णशकटं वन्दे गिरां दुर्घटम् ॥ २३ ॥

(तदनन्तर मार्ग की थकावट दूर होने पर जानकी कुटी की रचना से आनन्दित हो पुराणपुरुष श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम करती है) देव मनुष्यादि अवताररूप क्रीड़ा के कल्पवृक्षरूप विश्वरूप शरीर को प्रकट करनेवाले, निर्लेपभाव से विश्वरूप कमल को प्रफुल्लित करने के निमित्त सूर्यरूप, ब्रह्माण्डों के समूह को चूर्ण करनेवाले केवल अपने चरणरूप अवलम्ब को हृदय में धारनेवाले, भक्तों को संसार से तारने के निमित्त नौकारूप अतएव जिन्हों ने शान्तिशील, अम्बरीष आदि के संकट को नष्ट किया, जिन के शरीर की विजली की समान सुन्दर दमकने वाली कान्ति से माया का आवरण दूर होगया है, सीता के अधर के लोभी अर्थात् सीतारूप भक्त के मनोरथ को पूर्ण करने के लिये रामावतार धारनेवाले, तथापि जिन्हों ने कामादि शत्रुरूप मतवाले हाथियों के समूहों को छिन्न भिन्न करडाला है ऐसे बड़े २ दैत्यों का विशेषरूप से नाश करनेवाले वाणी के अगोचर श्रीरामचन्द्र जी को मैं प्रणाम करती हूँ ॥ २३ ॥

अथ मारीचः—

अतीतानागतवर्तमानत्रिकालदर्शनो लंकापतेराज्ञामासाद्य चिन्तयामास ।

रामादपि च मर्तव्यं मर्तव्यं रावणादपि ।
उभयोर्यदि मर्तव्यं वरं रामो न रावणः ॥ २४ ॥

(इसके अनन्तर वीते हुए होनहार और वर्तमान तीनों कालों के वृत्तान्त को जाननेवाला मारीच लंकापति रावण की आज्ञा पाकर विचारने लगा) यदि

रावण की आज्ञा मानकर पंचवटी में जाता हूँ तो रामचन्द्र जी के हाथ से मरना ही होगा, और यदि आज्ञा टालकर नहीं जाता हूँ तो रावणके भी हाथ से मरना ही होगा, इसप्रकार जब दोनों ही तरफ से मरना ही है तो रामचन्द्र जी अच्छे हैं, रावण नहीं, क्योंकि—रामचन्द्र जी के हाथ से मरने पर परलोक में मुक्ति की प्राप्ति और इस लोक में स्वामी के निमित्त प्राण जाने में कीर्ति की प्राप्ती होगी २४॥

सुललितफलमूलैस्तत्र कालं कियन्तं
दशरथकुलदीपे सीतया लक्ष्मणेन ।
गमयति दशकण्ठोत्कण्ठितप्रेरितं द्रा-
क्कनकमयकुरङ्गं जानकी संददर्श ॥ २५ ॥

सीता और लक्ष्मण सहित दशरथकुलदीपक श्रीरामचन्द्रजी ने उस पंचवटी में सुन्दर फल फूलों से विहार करते हुए कितना ही समय बितादिया तदनन्तर जानकी ने उत्कंठा के साथ रावण के भेजे हुए सोने के मृग को अचानक देखा २५

देहं हेममयं हरिन्मणिमयं शृङ्गद्वयं वैद्रुमा-
श्चत्वारोऽपि खुरा रदच्छदयुगं माणिक्यकान्तिद्युति ।
नेत्रे नीलसुतारके सुवितते तद्वचलं प्रेक्षितं
तत्तद्रत्नमयं किमत्र वहुना सर्वाङ्गरम्यो मृगः ॥ २६ ॥

उस मृग का सारा शरीर सुवर्ण का, दोनों सींग मरकत मणि के, चारों खुर [illegible]ों के, दोनों ओठ मोतियों की कान्ति से दमकते हुए, दोनों नेत्र सुन्दर नीलि[illegible] [illegible] युक्त तथा अति विशाल थे उस हिरन का चारों ओर को देखना अति चंचलतायुक्त था, और वह सभी अंगों में रत्नमय था, इस विषय में अधिक क्या कहें वह मृग सभी अंगों में सुन्दर था ॥ २६ ॥

साङ्गं मायाकुरङ्गं द्रुतनिधननिशाचारिमारीचमग्रे
धावन्तं संचरन्तं क्षणमपि गहने जानकी याचते स्म ।
रामं कामाभिरामं निशितशरधनुर्धारिणं लक्ष्मणेन
क्षिप्रं तद्रक्षणायोल्लिखिततटभुवा सोऽप्यगात्तद्वधाय ॥ २७ ॥

इति हनुमन्नाटके मारीचा गमनो नाम तृतीयोऽङ्कः ॥ ३ ॥

सकल अंगोंयुक्त माया से मृग का रूप धारण करनेवाले प्रतिक्षण में आगे आकर दौडते और बन में विचरते हुए तथा शीघ्र ही जिस की मृत्यु होनेवाली है, ऐसे मारीच राक्षस को जानकी ने, कामदेव की समान सुन्दर और तीखे धनुष वाण को धारण करनेवाले श्रीरामचन्द्र जी से मांगा अर्थात् जानकी कहनेलगी कि हे नाथ इस मृग का चर्म मुझे लादीजिये, तब श्रीरामचन्द्र भी तत्काल जानकी की रक्षा के लिये, धनुष की नोंक से पृथ्वी पर रेखा खींचनेवाले लक्ष्मण जी के सहित उस मृग का वध करने को चले गये ॥ २७ ॥

इति भाषाटीकामें मारीचागमन नामक तीसरा अङ्क समाप्त.

चतुर्थोऽङ्कः ।

आन्दोलयन्विशिखमेककरेण सार्धं
कोदण्डकाण्डमपरेण करेण धुन्वन् ।
सन्नह्य पुष्पलतया पटलं जटानां
रामो मृगं मृगयते वनवीथिकासु ॥ १ ॥

एक हाथ के साथ वाण को घुमाते और दूसरे हाथ से धनुष पर टंकार देते तथा अधिक होने के कारण जटाओं का जूडा बांधकर श्रीरामचन्द्र जी वन की पहाडियों में हरिणको खोजते हैं ॥ १ ॥

हस्ताभ्यां समुपैति लेढि च तृणं न स्पृश्यतां गाहते
गुल्मान्प्राप्य निवर्तते किसलयानाघ्राय चाघ्राय च ।
भूयस्त्रस्यति पश्यति प्रतिदिशं कण्डूयते स्वां तनुं
दूरं धावति तिष्ठति प्रचलति प्रान्तेषु मायामृगः ॥ २ ॥

उस समय वह माया का मृग कभी हाथ से पकडने योग्य स्थान पर आपहुंचता है, कभी घास सूंघने लगता है, परन्तु हाथ नहीं आता है, कभी लताकुंजों में जा कोमल पत्तोंको सूंघ २ कर लौट आता है, फिर भयभीत होता है,

और चारों दिशाओं की ओर देखने लगता है, कभी अपने शरीर को खुजलाता है, भागता है, कभी कभी दूर खड़ा होजाता है, और कभी इधर उधर को कतरा जाता है ॥ २ ॥

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्पन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ ३ ॥

(रामचन्द्र जी लक्ष्मण जी को दिखातेहुए देखो भय्या यह मृग कैसी सुन्दरता के साथ ग्रीवा को फेरकर बार २ उछलता है, पीछे को देखता है, पीछे चलनेवाले मेरी ओर टकटकी लगाय बाण बिधने के भय से पिछले शरीर को मानो अगले शरीर में को सिकोडे लेता है, थकावट के कारण फैले हुए मुख में से गिरनेवाले आधे काटेहुए कुशों से मार्ग को व्याप्त कररहा है । घबडा कर कभी आकाश में कुलाँचें भररहा है, और कभी पृथ्वी पर चौकडियें भरने लगता है ॥ ३ ॥

बाणेन दिव्येन रघुप्रवीरस्ततो मृगं वक्षसि बद्धलक्ष्यः ।
विव्याध यावत्तरसा तपस्वी दशाननस्तावदिहाजगाम ॥ ४ ॥

तदनन्तर रघुवीर श्रीरामचन्द्र जी ने ज्यों ही निशाना बाँधकर उस मृग की छाती में दिव्य बाण का प्रहार किया उसीसमय उधर पंचवटी में शीघ्रता से तपस्वी का वेष धार, रावण आपहुँचा ॥ ४ ॥

मारीचमृगयाव्यग्रे रामे प्राप्ते च रावणे ।
भयादिव कुरङ्गीणामस्याः पश्यामि लोचने ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मारीच के शिकार में लगजाने पर रावण पंचवटी के समीप आपहुँचा और सीता जी को देखकर मन में कहने लगा कि इस के सुन्दर नेत्र तो भय के मारे कातर हुई मृगी के नेत्रों की समान प्रतीत होते हैं ॥ ५ ॥

स व्याहरद्धर्मिणि देहि भिक्षामलंघयँल्लक्ष्मणलक्ष्मलेखाम् ।
जग्राह तां पाणितले क्षिपन्तीमाकारयन्तीं रघुराजपुत्रौ ॥ ६ ॥

वह रावण लक्ष्मण जी की कीहुई रेखा को न लांघकर बाहर से ही कहनेलगा कि हे अतिथि सेवा आदि धर्म को जाननेवाली नारि ! भिक्षां देहि । यह सुन ज्योंही सीता रेखा से बाहर हो कर रावण के हाथ में भिक्षा देनेलगी त्योंही रावण उठाकर ले गया उस समय सीता हा राम ! हा लक्ष्मण ! इस प्रकार बार बार पुकारती ही रहगई ॥ ६ ॥

रे रे भोः परदारचोर किमरेऽधीरं त्वया गम्यते
तिष्ठाधिष्ठितचन्दनाचलतटः प्राप्तो जटायुः स्वयम् ।
मुञ्चैनां पतिदेवतां न खलु चेन्मच्चण्डतुण्डांकुश-
क्रूरावस्करणव्रणासृगुरसः यास्यन्ति गृध्रास्तव ॥ ७ ॥

मार्ग में जटायु ललकारकर, अरे नीच ! अरे परस्त्री की चोरी करनेवाले! अरे ! क्यों घबड़ाया हुआ दौड़ा चलाजारहा है? ठहर; मैं मलयाचल पर रहनेवाला जटायु आपहुंचा हूँ; इस पतिव्रता को छोड़दे नहीं तो निस्संदेह मेरी चोंचरूप प्रचण्ड भाले के घोर प्रहार से होनेवाले घावों में से निकलते हुए तेरे हृदय के रुधिर को गिद्ध पियेंगे ॥ ७ ॥

जन्म ब्रह्मकुले हरार्चनविधौ कृत्वा शिरःकृन्तनं
शक्तिर्वज्रिणि घोरदण्डदलनव्यापारशक्तं मनः ।
हेलोल्लासितकेलिकन्दुकनिभः कैलास उत्पाटित-
स्तत्किं रावण लज्जसे न हरसे चौर्येण पत्नीं रघोः ॥८॥

अरे ! ब्रह्मकुल में तेरा जन्म हुआ, शिव जी की पूजाकी विधि में तू ने अपना शिर काट काट चढ़ाया इन्द्र पर अपनी शक्ति दिखाई, वश में न होनेवाले शत्रुओं को वश में करने में अपना मन लगाया तू ने अनायास ही में खेलने की गेंद

की समान बड़े भारी कैलास पर्वत को उखाड लिया, अरे ! ऐसा बल होने पर भी तू चोरी करके रघुनाथ जी की पत्नी को हरकर लिये जारहा है, ऐसा करने में तुझे लज्जा क्यों नहीं आई ॥ ८ ॥

मैनाकः किमयं रुणद्धि पुरतो मन्मार्गमव्याहतं
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावणं
हा ज्ञातं स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥९ ॥

(रावण मन ही मन में ; क्या यह मैनाक बेखटके मेरे सामने आकर मार्ग को रोकरहा है ? परन्तु उस की इतनी शक्ति कहाँ, क्योंकि वह तो इन्द्र के वज्र-प्रहार से डरगया था, तो क्या यह गरुड है ? परन्तु गरुड भी अपने स्वामी विष्णुसहित मुझ रावण को जानता है,ओः! जान लिया यह वह जटायु है, जो बुढापे के कारण क्लेशित हो मरना चाहता है ॥ ९ ॥

मा भैषीः पुत्रि सीते व्रजति मम पुरो नैष दूरं दुरात्मा
रे रे रक्षः क्व दारान्रघुकुलतिलकस्यापहृत्य प्रयासि ।
चंच्वाक्षेपप्रहारत्रुटितधमनिभिर्दिक्षु विक्षिप्यमाणै-
राशापालोपहारं दशभिरपि भृशं त्वच्छिरोभिः करोमि॥१०॥

जटायु—बेटीसीते ! भय न मान, यह दुष्टात्मा मेरे सामने से दूर निकलकर नहीं जासकता अरे नीच राक्षस! रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्र जी की स्त्री को हरकर तू कहां जाता है, अरे ! अभी चोंचों के प्रहारों से रगों को तोडकर तेरे चारों ओर लुढकते हुए दशों शिरों का दिक्पालों को बलि दिये देता हूँ ॥ १० ॥

अक्षं विक्षिपति ध्वजं दलयते मृद्नाति नद्धं युगं
चक्रं चूर्णयति क्षिणोति तुरगान् रक्षःपतेः पक्षिराट् ।
रुन्धन्गर्ज्जति तर्जयत्यभिभवत्यालम्बते ताडय-
त्याकर्षत्यवलुम्पति प्रचलति न्यञ्चत्युदंचत्यपि ॥ ११ ॥

पक्षि राज जटायु—राक्षस पति रावण के रथके धुरे को तोडता है, ध्वजा को मरोडता है बंधेहुए धुरे को कुचलता है, पहियों को चूरा २ करता है, घोडों को घायल करता है, रोक कर गर्जता है, भय दिखाता है, तिरस्कार करता है, मार्ग में से निकलने नहीं देता है, रावण के शरीर पर चोटें करता; केशों को खसोटता. वस्त्रों को फाडता और अपने उडने की फुरती दिखाता हुआ रावण के प्रहार से अपने शिरको नवालेता है,तथा उस के प्रहार को वचाने के लिये ऊपर को उडजाता है ॥ ११ ॥

क्रुद्धस्ततो दृढचपेटशिलातलेन
रक्षः पिपेष गहनेऽद्भुतपक्षिराजम् ।
ईषत्स्थितासुरपतद्भुवि राम राम
रामेति मन्त्रमनिशं निगदन्मुमुक्षुः ॥ १२ ॥

तब अतिक्रोध में भरेहुए-राक्षस रावण ने शिला के प्रहार के समान हाथ के एक ही दृढ चपेटे से उस अद्भुत पक्षिराज जटायु को उस वन में मसलडाला, उस समय जटायु हृदय में मोक्षपद पाने की अभिलाषा रक्खेहुए कुछेक प्राण शेष रहने पर हे राम ! हे राम ! हे राम ! इस मन्त्र को वार २ जपताहुआ भूतल पर गिरपडा १२

न मैत्री निर्व्यूढा दशरथनृपे राज्यविषया
न वैदेही त्राता हठहरणतो राक्षसपतेः ।
न रामस्यास्येन्दुर्नयनविषयोऽभूत्सुकृतिनो
जटायोर्जन्मेदं वितथमभवद्भाग्यरहितम् ॥ १३ ॥

(उस समय जटायु मन ही मन में शोक-करने लगा कि) हाय ! मैंने तुम्हारे राज्य के पालन में सहायता करूंगा, इस कथन के अनुसार राजा दशरथ की मित्रता को न निभाया, हठ के साथ हर लेजाते हुए राक्षसपति रावण से सीता की रक्षा न करसका, और पुण्यात्मा श्रीरामचन्द्र जी का मुखचन्द्र भी मेरे नेत्रों को प्राप्त न हुआ, हाय ! मुझ अभागे जटायु का यह जन्म ही निरर्थक गया ॥ १३ ॥

हा राम हा रमण हा जगदेकवीर
हा नाथ हा रघुपते किमुपेक्षसे माम्।
इत्थं विदेहतनयां मुहुरालपन्ती-
मादाय राक्षसपतिर्नभसा जगाम ॥ १४ ॥

हा राम ! हा रमण ! हा संसार के एक वीर ! हा नाथ ! हा रघुपते ! मेरी सुधि क्यों नहीं लेते ! इस प्रकार वार वार विलाप करतीहुई जानकी को लेकर राक्षसपति रावण आकाशमार्ग से चलागया ॥ १४ ॥

आकृष्यमाणाभरणानि मुक्त्वा सैरध्वजी मारुतिमद्रिमौलौ।
उवाच रामाय सलक्ष्मणाय वराय देयानि सदेवराय ॥१५॥

हरी जातीहुई जनककुमारी सीता जी ने शीघ्रता से गहने उतार पर्वत के शिखर पर छोडकर हनुमान जी से कहा कि—यह मेरे गहने देवर लक्ष्मण के साथ आनेवाले श्रीरामचन्द्र जी को देदेना ॥ १५ ॥

रामः शुष्के स्थाणौ दक्षिणे रटन्तं करटमवलोक्य पुनरागच्छन्निजप्राणप्रयाणमेव मन्वानः क्षणं विश्रम्य।
मायाकुरंगं विनिहत्य रामो भ्रात्रा सहागत्य च पर्णशालाम्।
कोणत्रयेषु प्रसमीक्ष्य सीतां दृष्टश्चतुर्थो न च शोकभीत्या॥१६॥

इति श्रीमद्धनुमन्नाटके सीताहरणं नाम चतुर्थोऽङ्कः ॥ ४ ॥

(इधर श्रीरामचन्द्र जी लौटते में दाहिनी ओर सूखे ठूंट पर बोलतेहुए काक को देखकर अपने प्राण निकलेहुए से मान क्षणभर विश्राम करके) मायारूपी मृग को मारकर भ्रातासहित आएहुए श्रीरामचन्द्र जी ने पर्णशाला के तीन कोनों में सीता को ढूँढा शोक के भय से चौथे कोने को न खोजसके ॥ १६ ॥

इति भाषाटीकामें सीताहरणनामक चतुर्थ अंक समाप्त।

पञ्चमोऽङ्कः ।

रामः प्राणोत्क्रमणसमयादपि घोरतरं वियोगसमयमधिगम्य पर्णशालान्तरालमालोक्य कथमपि विदीर्णहृदयमार्गादुज्जिगमिषून्प्राणान्धारयंस्तदुत्तरीयमुपलभ्य जानकीं स्मरन्नरोदीत्-

द्यूते पणः प्रणयकेलिषु कण्ठपाशः
क्रीडापरिश्रमहरं व्यजनं रतान्ते ।
शय्या निशीथसमये जनकात्मजायाः
प्राप्तं मया विधिवशादिदमुत्तरीयम् ॥ १ ॥

रामचन्द्र प्राण निकलने के समय से भी अधिक दुःखदायक वियोग के समय को पाकर पर्णशाला के भीतर देख बडी कठिनता से विदीर्ण हुए हृदयरूपी मार्ग से निकल कर जाने की इच्छा करनवाले प्राणों को धारतेहुए जानकी का दुपट्टा पाय स्मरण कर रोने लगे-जो द्यूत के समय दाँव पर लगाया जाता था-प्रेम की क्रीडाओं में कण्ठपाश बनाया जाता था-और आधी रात्रि के समय शय्या का काम देता था, वह यही जानकी का दुपट्टा इस समय मैंने प्रारब्धवश पाया है ॥ १ ॥

बहिरपि न पदानां पंक्तिरन्तर्न काचि-
त्किमिदमियमसीता पर्णशाला किमन्या ।
अहमपि किल नायं सर्वथा राघवश्चे-
त्क्षणमपि नहि सोढा हन्त सीतावियोगम् ॥ २ ॥

पर्णशाला के बाहर भी चरणों के चिह्न नहीं हैं, और न पर्णशाला के भीतर ही को चिह्न हैं, क्या यह सीताविहीन कोई दूसरी ही पर्णशाला है ? या मैं ही कोई और होगया हूँ, यदि राम होता तो क्षणभर भी सीता का वियोग न सहसक्ता ॥ २ ॥

मध्योऽयं हरिभिः स्मितं हिमरुचा नेत्रे कुरङ्गीगणैः
कान्तिश्चम्पककुड्मलैः कलरवो हा हा हतः कोकिलैः ।
मातंगैर्गमनं कथं कथमहो हंसैर्विभज्याधुना
कान्तारे सकलैर्विनाश्य पशुवन्नीतासि भो मैथिलि ॥ ३ ॥

हाय सीते ! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, कि इस वन में मेरे विना अवसर पाकर यह सर्व वन के प्राणी तुझे पशु समान मारकर लेगये हैं—मध्यभाग (पेट) सिंहों ने, मुस्कुरान चन्द्रमाने, नेत्र हरिणों ने, कान्तिचम्पे की कलियों ने, मधुर भाषण कोकिलों ने, और हाय हाय तेरे गमन को हाथियों और इन हंसो ने न जाने कैसे बाँटकर लिया होगा ॥ ३ ॥

युक्तमेव हि कैकेय्या यदहं प्रेषितो वनम् ।
ईदृशी यस्य मे बुद्धिर्मृगः क्वापि हिरण्मयः ॥ ४ ॥

कैकेयी ने ठीक ही किया जो मुझे वन को भेजदिया, जिस मेरी ऐसी (उलटी) बुद्धि है, कहीं सुवर्ण का मृग होता है ॥ ४ ॥

आलिंगितात्र सरसीरुहकोरकाक्षी
पीताधरेति मधुरे विधुमण्डलास्या ।
रंगावतारमकरंदविमर्दितानि
पुष्पाण्यमूनि दयिते क्व गतेत्यरोदीत् ॥ ५ ॥

(पर्णशाला में पुष्पमाला पडी देखकर हे प्रिये ! तू कहाँ गई, हे कमल की कली-समान नेत्रवाली यहां मैंने तुझे आलिङ्गन किया था,) हे मधुरे ! चन्द्रमण्डल की समान तेरे मुख का अधरामृत पिया था, यह केलिसमय में कुचलेहुए मकरन्दवाले पुष्प अब भी पडेहुए हैं, हे प्रिये ! तू कहां गई, ऐसा कहकर रुदन करनेलगे ॥५॥

गाहंगाहं गह्वरकान्तारवनान्ता-
दर्शंदर्शं दर्पकभल्लीरिव वल्लीः ।

स्मारंस्मारं दूरगतां तामथ कान्तां
रामः कान्तामद्रिचरो दीनमरोदीत ॥ ६ ॥

गहन वनों के दुर्गम मार्गों में घूम २ कर कामदेव के भाले समान कन्ताओं को देख देख कर अपने से दूर हुई मनोहारिणी प्रिया सीता को स्मरण कर २ के पर्वतों में विचरनेवाले श्रीरामचन्द्र जी दीनता के साथ रुदन करनेलगे ॥ ६ ॥

स भूरजोराञ्जितसर्वकायो
बभौ विभर्मन्युविदीर्णचेताः ।
योषिद्वियोगानलदह्यमानं
स्वकान्तमालिङ्गयतीव भूमिः ॥ ७ ॥

पृथ्वी की धूलि से जिनका सब शरीर अटरहा है शोक से विदीर्ण चित्तवाले सर्व व्यापी श्रीरामचन्द्र जी ऐसी शोभा को प्राप्त हुए मानो स्त्री के वियोग के अग्निसे भस्म होतेहुए अपने पति को पृथ्वी आलिङ्गन कररही है ॥ ७ ॥

सीतेति हा जनकवंशजवैजयन्ति
हा मद्विलोचनचकोरनवेन्दुलेखे ।
इत्थं स्फुटं बहु विलप्य विलप्य राम-
स्तामेव पर्णवसतिं परितश्चचार ॥ ८ ॥

सीता ! हा जनकवंशियों की पताकारूप ! हा मेरे नेत्ररूप चकोरों को नवीन चन्द्रकी समान, इस प्रकार प्रकटरूप से वार २ विलाप करके श्रीरामचन्द्र जी तिस पर्णशाला के ही चारों ओर विचरने लगे ॥ ८ ॥

हा जानकि प्रचलितोत्पलपक्ष्मनेत्रे
हा मे मनःकमलकाननराजहंसि ।
एष प्रिये तव वियोगजवह्निदग्धो
दीनं प्रयामि भवतीं क्व विलोकयामि ॥ ९ ॥

हा जानकि ! हा खिलते हुए नीलकमल की समान नेत्रवाली ! हे मेरे मनोरूप कमलवन की राजहंसी ! हे प्रिये ! यह देख मैं तेरी वियोगाग्नि से दग्ध हुआ दीनके समान फिररहा हूं हाय तुझे कहाँ देखूँ ॥ ९ ॥

रे वृक्षाः पर्वतस्था गिरिगहनलता वायुना वीज्यमाना
रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनयः शोकशुक्रेण दग्धः ।
बिम्बोष्ठी चारुनेत्री सुविपुलजघना बद्धनागेन्द्रकांची
हा सीता केन नीता मम हृदयगता को भवान्केन दृष्टा॥ १०॥

अरे पर्वत के वृक्षो ! हे वायु से हिलतीहुई पर्वत की वन की लताओ ! मैं व्याकुलचित्त हुआ शोकाग्नि से भस्मीभूत दशरथपुत्र रामचन्द्र हूँ, क्या तुम में से किसी ने कंदूरी के समान ओठवाली, सुन्दरनयना अतिविशाल जंघाओंवाली और गजमुक्ताओं की तागडी को पहिने सीता देखी है, न जाने उस मेरी हृदयेश्वरी को कौन लेगया अरे तुम कौन हो ? बताओ तो सही किसी ने देखी है ॥ १० ॥

हे गोदावरि पुण्यवारिपुलिने सीता न दृष्टा त्वया
सा हर्तुं कमलानि चागतवती याता विनोदाय वा ।
इत्येवं प्रतिपादपं प्रतिनगं प्रत्यापगं प्रत्यगं
प्रत्येणं प्रतिबर्हिणं तत इतस्तां मैथिलीं याचते ॥ ११ ॥

हे गोदावरी ! हे पवित्र जल के पुलिनवाली, तू ने कमलों को लेने के लिये, आती हुई सीता तो नहीं देखी ? इस प्रकार हरएक वृक्ष से, हरएक पर्वत से, हरएक नदी से, प्रत्येक मृग से, और प्रत्येक मोर से, जिधर तिधर श्रीरामचन्द्र जी मैथिली को माँगते थे ॥ ११ ॥

(पुनर्लक्ष्मणमासाद्य वैक्लव्यं नाटयति)

के यूयं वद नाथनाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः
कोऽहं वत्स स आर्य एव भगवानार्यः स को राघवः ।

किं कुर्मो विजने वने तत इतो देवी समुद्वीक्ष्यते
का देवी जनकाधिराजतनया हाहा प्रिये जानकि ॥ १२ ॥

(फिर लक्ष्मण को पाय विकलता का नाट्य करते हैं) **राम**—बताओ तुम कौन हो ? **लक्ष्मण**—हे नाथ ! हे महाराज ! आप को यह क्या हुआ ? मैं आप का दास लक्ष्मण हूं । **राम**—हे तात ! मैं कौन हूं ? **लक्ष्मण**—महाराज आप वही अवधेश रामचन्द्र हैं । **राम**—वह कौन राम ? **लक्ष्मण**—वही रघुकुलभूषण । **राम**—इधर उधर निर्जन वन में घूमते हम क्या कररहे हैं ? **लक्ष्मण**--देवी को खोजते फिरते हैं । **राम**—कौनसी देवी ? **लक्ष्मण**--महाराज जनक जी की पुत्री । **राम**--हाय हाय प्रिये जानकी ! तू कहाँ है ॥ १२ ॥

सौमित्रिणा सह रामः, अत्रान्तरे वनान्तं पर्यटञ्जनकतनया तापिनः पापिनो रजनिचरपतेर्भुजभुजङ्गमण्डलीखण्डितो-रगवधूवैधव्यधातारं विपक्षरक्षसा निहतं घोरसमरमूर्च्छितं पक्षिराजं जटायुषं भग्नं च रावणरथमालोक्य—

ज्ञात्वा दशरथस्यैनं मित्रं शत्रुनिषूदनम् ।
हा तात किमिदं नाम रामः पक्षीन्द्रमब्रवीत् ॥ १३ ॥

(इस वीच में लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी वन में घूमते हुए जानकी को ताप देनेवाले पापी राक्षसपति रावण की भुजारूप नागमण्डली से घायल हुए, सर्पों की वधुओं को रण्डापा देनेवाले शत्रु रावण के साथ घोर संग्राम करके मृतकसमान मूर्च्छित पडे हुए पक्षिराज जटायु तथा टूटेहुए रावण के रथ को देखकर) इस पक्षिराज को पिता दशरथ का मित्र और अपने शत्रु का नाश करनेवाला जानकर श्रीरामचन्द्र जी कह उठे कि, हा तात ! यह तुम्हारी क्या दशा हुई है ॥ १३ ॥

जटायुः—

अर्धरात्रे दिनस्यार्धे अर्धचंद्रेऽर्धभास्करे ।
रावणेन हृता सीता कृष्णपक्षे सिताष्टमी ॥ १४ ॥

जटायु—अर्धरात्रि (पितरों की) दिन के मध्य समय (देवताओं के) शुक्ल पक्ष में अष्टकलायुक्त चन्द्रमा और मध्याह्नकालिक अर्थ सूर्य होने पर शुक्रवार अष्टमी के दिन अर्थात् देवताओं के आधे दिन रूप चैत्रमास की पितरों की अर्ध रात्रि रूप अष्टमी के दिन शुक्रवार सहित मध्याह्नकाल में रावण ने सीता को हरा था ॥ १४ ॥

रामः—

भग्नोऽयं कथमस्ति रावणरथस्तातेन वज्रांकुर-
क्रावस्करणेन भंगुरलसत्कोटित्रुटज्ज्यं धनुः ।
हे सीरध्वजराजपुत्रि स तथा दृष्टस्त्वया धन्यया
पक्षीन्द्रो दशकण्ठकुञ्जरशिरःसंचारिपञ्चाननः ॥ १५ ॥

राम—हे तात ! आपने वज्र की धारसमान आप की भयानक चोंच को भी फाड डालने से टेढी कोटि वाले अब जिसका रोदा टूटगया है ऐसे रावण के धनुष को और रथ को कैसे तोडा था, हे जनकनन्दिनी सीते ! रावणरूप हाथी के शिरों पर फिरनेवाले सिंह के समान इन पक्षिराज जटायु का तूने दर्शन किया इस कारण तू धन्य है ॥ १५ ॥

तात त्वं निजतेजसैव गमितः स्वर्गं व्रज स्वस्ति ते
ब्रूमस्त्वेकमिमां वधूहृतिकथां तातान्तिके मा कृथाः ।
रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयैर्व्रीडानमत्कन्धरः
सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः ॥ १६ ॥

हे तात जटायु ! तुम अपने तेज से ही स्वर्ग को प्राप्त हुए हो, जाओ तुम्हारा कल्याण हो, परन्तु तुम से एक इतना कहना है, कि इस सीताहरण की बात को पिता दशरथ जी के समीप न कहना, यदि मैं रघुवंशी राम हूँ तो थोडे ही दिनों में कुम्भकर्णादि अपने बन्धुजन तथा इन्द्रविजयी मेघनाद सहित यह रावण ही लज्जा से ग्रीवा को नवायेहुए तहाँ आकर अपने आप ही सब समाचार सुनावेगा ॥ १६ ॥

रामः–

वनेचरान्मृगान्विलोक्य । आः खलुः दुरात्मनाममीषां रूपेण मारीचिना प्रपञ्चमवलम्ब्य प्राणवल्लभाश्लेषतो विश्लेषितोऽहमिति अहं पुनः मृगीचक्रवधेन कुरङ्गाणां प्रियाविरहमुत्पादयामीति विचार्य–

अमोघाः कृष्टनालीकाः काननेषु मृगीवधे ।
रामः किं दूरघातीति सीतानयनशङ्कया ॥ १७ ॥

राम–(वनचारी मृगों को देख कर) ओः निस्संदेह इन दुष्टात्माओं के ही रूप से मारीच ने माया फैलाकर मुझे प्राणप्रिया के संग से छुडाया है, इसकारण अब मैं भी हरिणियों के समूह का वध करके मृगों को स्त्रीवियोग का दुःख उत्पन्न करूँ; ऐसा विचार कर–

वनों में मृगियों के वध के लिये कानों तक खैंचेहुए निशानों को पार करनेवाले लोहे के वाण और दूरसे ही प्रहार करनेवाले श्रीरामचन्द्र जी उन के नेत्रों में जानकी के नेत्रों की समानता देख वध करने में अपराध की शंका से निवृत्त हुए ॥ १७ ॥

ततः कथमपि भगवति भास्करेऽस्ताचलावलम्बिनि प्रलयकालोदितप्रचण्डमार्तण्डमण्डलमिवोदितं चन्द्रमण्डलं तरुणकोपारुणदारुणं तरणिनन्दनमिवावलोक्य रामः–

सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्भवता कथं नु विदितं धत्ते कुरंगं यतः
क्वासि प्रेयसि हा कुरंगनयने चन्द्रानने जानकि ॥ १८ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो सूर्य का उदय हुआ प्रतीत होता है, चलो वृक्ष की छाया में चलकर बैठें। लक्ष्मण–नाथ आप सूर्य की क्या बातें करते हैं, महाराज ! यह तो

चन्द्रमाका उदय होरहा है, राम-भैया यह तुमने कैसे जाना ? लक्ष्मण-यह मृग का चिह्न धारण कियेहुए हैं, इसकारण। राम-हा कुरनङ्गयनी चन्द्रमुखी प्रिये जानकी ! तू कहाँ है ? ॥ १८ ॥

रामचन्द्रमधिक्षिपति-

मन्दरेण मथितोऽसि न पापिञ्ज्वालितोऽसि तमसा न दुरात्मन् ।
त्वां शरेण शतधा परिनिन्ये जानकीमुखसमो यदि न स्याः॥१९॥

रामचन्द्र-(चन्द्रमा को धिक्कार देते हुए) अरे पापी! तुझे मन्दराचल ने क्यों न मथा, अरे दुष्टात्मन् ! तुझे राहु ने भस्म क्यों नहीं किया, यदि तू जानकी के मुख की समान नहीं होता तो मैं अभी बाण लेकर तेरे सैकडों टुकडे करडालता ॥ १९ ॥

अपि च लक्ष्मणं प्रति-

सौमित्रे दाववह्निस्तरुशिखरगतो वार्यतां निर्झरौघैः
का वार्ता दाववह्नेरयमुदयगिरेरुज्जिहीते हिमांशुः ।
धत्ते धूमं हिमांशुः कथय कथमयं नैव धूमो धरण्या-
श्छायेयं संगताऽभूदयि धरणिसुते कुत्र कान्तेसि सीते ॥२०॥

(और भी लक्ष्मण जी से) लक्ष्मण ! देखो यह वृक्षों की शाखाओं पर वन की दौं लगरही है, झरनों के जलों से इस को बुझाओ। लक्ष्मण-महाराज ! इस समय दौंकी अग्नि की क्या बात है, यह तो उदयाचल से चन्द्रमा उठरहा है,-राम-तो भला कहो तो सही चन्द्रमा धुएँ को कैसे धाररहा है, लक्ष्मण-महाराज यह धुआँ नहीं है, किन्तु चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया पडरही है। राम-हे भूमिसुते ! सीते ! प्रिये ! तू कहाँ है ? ॥ २० ॥

रामः सकरुणं आत्मनि प्राणवल्लभायाः परमप्रेमाणमधिगम्य-

शंके शशांके जगुरंकमेके पंकं कुरंगं प्रतिबिम्बितांगम् ।
धूमं च भूमण्डलमुद्धताग्नेर्वियोगजातस्य मम प्रियायाः ॥२१॥

(श्रीरामचन्द्रजी बडी करुणा के साथ अपने ऊपर प्राणप्रिया के परम प्रेम को स्मरण करके) कोई कभी अपने चित्त में कहते हैं कि-चन्द्रमा पर कलंक लगा है। एक कहते हैं, कि समुद्र की कीच लगरही है। दूसरे कहते हैं कि, चन्द्रमा में इस के वाहन मृग का प्रतिविम्ब पडरहा है, और कोई कहते हैं, कि इस पर पृथ्वी की छाया पडरही है, परन्तु मुझ को तो ऐसी शंका होती है कि-यह मेरे वियोगसे उत्पन्न हुए प्रिया सीता के शोकाग्नि का धुआं है ॥ २१ ॥

रे रे निर्दय दुर्निवार मदन प्रोल्फुल्लपंकेरुहा-
न्बाणान्त्संवृणु संवृणु त्यज धनुः किं पौरुषं मां प्रति ।
कान्तासंगवियोगजातहुतभुग्ज्वालाप्रदग्धं वपुः
शूराणां मृतमारणे नहि वरो धर्मः प्रयुक्तो बुधैः ॥ २२ ॥

अरे नीच ! कठिन से हटाने योग्य कामदेव ! खिलेहुए कमलरूप अपने बाणों को लौटा २, अरे धनुष को छोडदे मेरे ऊपर क्या पुरुषार्थ करता है. क्योंकि मेरा-शरीर तो अपनेआप ही प्रिया के संगका वियोग होने के कारण उत्पन्न हुए शोकाग्नि-की ज्वालाओं से आपही भस्म होरहा है, चतुरों का कहना है कि-मरे हुओं को मारने में शूर पुरुषों का श्रेष्ठ धर्म नहीं है ॥ २२ ॥

अथवा-

आपुंखाग्रममी शरा मनसि मे मग्नाः समं पञ्च ते
निर्दग्धं मदनाग्निना वपुरिदं तैरेव सार्धं पुनः ।
कष्टं काम निरायुधोऽसि भवता जेतुं न शक्यो जनो
दुःखी स्यामहमेक एव सकलो लोकः सुखं जीवतु ॥ २३॥

अथवा यह तेरे पांचों बाण परोंसहित मेरे मन में गडगये और हे काम ! उन तेरे पांचों बाणोंसहित मेरा यह शरीर जानकी की वियोगाग्नि से भस्म होगया, अरे ! मार बडे दुःख की बात है कि अब तू शस्त्रहीन होगया, इस कारण संसार में किसी को जीत नहीं सकेगा, अच्छा हुआ अकेला मैं ही दुःखी रहूँ, और सब संसार सुख से जीवे ॥ २३ ॥

तत्रापि क्षणं विकसिताशोकतरुतले विश्रा-
म्याह स्म दाशरथिः-

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयो-
स्तुल्यं सर्वमशोककेवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥ २४ ॥

(तिस दशा में भी खिलेहुए अशोक वृक्ष के नीचे क्षणभर विश्राम करके दशरथ कुमार श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे) हे अशोक ! तू नये २ पत्तों से रक्त (लाल) और मैं प्रशंसायोग्य प्रिया जानकी के गुणों करके रक्त (अनुरक्त) हूँ, हे मित्र ! तेरे ऊपर शिलीमुख (भौंरे) आते हैं तो मेरे ऊपर भी कामदेव के धनुष से छूटेहुए शिलीमुख (बाण) आते हैं, तू स्त्री के चरणतल की ठोकर से प्रसन्न होता है, तैसे ही मैं भी, मेरी तेरी सब बातें समान हैं, केवल विधाता ने तुझ को अशोक और मुझको सशोक (शोकयुक्त) बनाया है ॥ २४ ॥

पुनरपि प्रलपति-

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा ।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ॥ २५ ॥

(फिर भी प्रलाप करते हैं) अन्तर पड़ने के भय से मैंने कंठ में हार भी नहीं पहरा था, परन्तु इस समय मेरे और तेरे अन्तर (मध्यमें) पहाड़, नदियें, वृक्ष होगये ॥ २५ ॥

चन्द्रश्चण्डकरायते मृदुगतिर्वातोऽपि वज्रायते
माल्यं सूचिकुलायते मलयजो लेपः स्फुलिंगायते ।
रात्रिः कल्पशतायते विधिवशात्प्राणोऽपि भारायते
हा हन्त प्रमदावियोगसमयः संहारकालायते ॥ २६ ॥

मेरे लिये चन्द्रमा सूर्य की समान सन्ताप दायक होगया है, मन्द २ चलने-वाला वायु भी वज्रसा प्रतीत होता है, पुष्पमाला सुइयें सी छिदतीं हैं, चन्दन का लेप अग्नि की चिनगारियोंसा प्रतीत होता है। रात्रि सैकडों कल्प की समान होगई, दैव की प्रतिकूलता से प्राण भी भार लगते हैं हाय! अधिक क्या कहूँ जानकी के वियोग का समय मुझे तो प्रलयकाल की समान होगया है॥ २६॥

मांसं कार्श्यादभिगतमपां बिन्दवो बाष्पपाता-
त्तेजः कान्तापहरणवशाद्वायवः श्वासदैर्घ्यात् ।
इत्थं नष्टं विरहवपुषस्तन्मयत्वाच्च शून्यं
जीवत्येवं कुलिशकठिनो रामचन्द्रः किमेतत् ॥ २७ ॥

दुर्वलता के कारण मांसरूप भूमितत्त्व नष्ट होगया, निरन्तर आंसुओं के गिरने-से जल की विन्दुरूप जलतत्त्व नष्ट होगया, स्त्री के हरेजाने से तेजःस्वरूप तत्व भी जाता रहा, लम्बे २ श्वासों के कारण वायुतत्त्व नष्ट होगया, मन में प्रिया के वसने से आकशतत्त्व भी न रहा इस प्रकार विरही शरीर नष्ट होगया, परन्तु वज्र की समान कठोर मैं रामचन्द्र अव भी जी रहा हूँ, यह कैसे आश्चर्य की वात है॥ २७॥

सलक्ष्मणो रामः-

एवं दैवयोगाद्घोरगवयगजभुजंगशरभशार्दूलकोलबहुल-कोलाहलाहूतभूतवेतालसमुत्तालकालकरालचक्रवालकण्ठ-नालप्रोच्छलत्तुमुलघोरचीत्कारामिलितबहलान्धकारकलि-तगह्वरान्तरालविलसदविरलसरलपरिमलवहलचञ्चलग-लद्विमलमकरन्दबिन्दुकीलालजालपिच्छलालवालललित-प्रमत्तालिमालमंदानिलान्दोलवाचालदरदलितललितमाक-न्दवृन्दबकुलमुकुलिधूलिजालखेलत्कोकिलकुलविलासिनी-

कोमलालापनिखिलगिरिशिखरशिखिलास्यलीलाकलाप-
सानुकूललोलद्दोलांगूलचञ्चचकोरचक्रमञ्जुगुञ्जद्वृक्षपक्षिणी-
पक्षवृद्धिम् ।

(लक्ष्मणसहित राम) इसप्रकार दैवयोग से गौरवर्ण गवय, सर्प, शरभ, (आठवर्ण वाला मृग) शेर, सूकरों के अत्यन्त कोलाहल से आएहुए, भूत वेतालों के बडे बडे कराल मंडलों के कंठ से निकलेहुए, बडेभारी चिल्लाहट से मिले, घने अन्धकार से भरीहुई गहनगुफाओं में विलास करनेवाला जो निरन्तर देवदारु का गन्ध तिन से युक्त, जो बहुतसे गिरतेहुए स्वच्छ मकरन्द के विन्दु तद्रूप जल के प्रवाह से भरे हुए जो वृक्षों के थामले, तिन में गुंजारनेवाले जो मतवाले भौंरे तिन की पंक्तियों से मन्द २ पवन के झकोले आने के कारण शब्दायमान स्वच्छ खिले-हुए सुन्दर मौलश्री के वृक्षों के समूहों में धूलि से अटी क्रीडा करतीहुई कोकिलाओं की कोमल कूकसे भरेहुए पर्वतों के शिखरों में मोरों के नाचने की लीलाओंके अनुकूल इधर उधर को चलायमान चमरगायों की पूँछें और चंचल चकोरों के समूहों से युक्त होकर शब्द करतीहुई जो वृक्षों पर की पक्षियों की स्त्रियें तिन के परों की वृद्धि को ।

गगनचुम्बनबद्धलक्ष्यविपुलफलाभारावलम्बनालम्बितान-
न्तजन्तुसंतोषपोषानिर्दोषभूषणाध्युषितनिःशेषसविशेषामृत-
दर्पस्पर्धिवर्धिष्णुरसरसालप्रियालहिन्तालतमालकृतमालवि-
शालशाल्मलमालूरशल्लकीशिरीषासनशमीशाकशिंशपाशो-
कचम्पकसुरदारकोविदारकर्णिकारसिन्दुवारबहुमारनिम्ब-
जम्बूदुम्बरकदम्बकरञ्जसौभाञ्जनबकुलनिचुलकरुखर्जूरबी-
जपूरजम्बीरभाण्डारवानीरकाश्मीरनारङ्गकर्मरङ्गकदलीच-
न्दनालिंगितालवलीधात्रीवटकुटजपाटकाङ्कोलकंकोलचोल-
भल्लातकविभीतकहरीतक्याम्रातककेतककंकतवैकंकतमधूकव-

न्धूकजयन्तीजपाश्वत्थकपित्थतिन्तिणीनागकेसरादिदुस्तरा-
मरण्यानीं पर्यटन्महावराहस्कन्धारूढमुत्कटं रटन्तं करटं
वामतो विलोक्य ।

आकाश को छूने में जिन्होंने वांधा है. ध्यान भारीपन से लटकतेहुए फलों के गुच्छों में स्थित अनेकों प्राणियों को सन्तोष और पुष्टि देने से निर्दोष भूषणवाले वृक्षों में स्थित जो पूर्ण अनेकों प्रकार का स्वादवाला अमृत से भी सुन्दर प्रतिदिन वढ़ताहुआ रस तिस करके युक्त जो आम, चिरौंजी, हिंगोटक, कमाल, कृतमाल, विसाल, सेमल, वेल, शाल, सिरस, विजयसार, शमीशाक, अशोक, चम्पा, देवदारु, कचनार, कनेर, सप्तपर्ण, सेंजना, नीम, जामन, गूलर, कदम्ब, कंजा, मौलश्री, समुद्रफल, खजूर, विजोरा, जमीरी, भाण्डार, वेत, केशर, नारंगी, अगर, केला, चन्दन से लिपटाहुआ आँवला, वड, कुटज, पाणल, अंकोल, कंकोल, चोल, भिलावा, वहेडा, हर्र, अमलवेत, केतकी, कंघी, कंकत, महुआ, कंदूरी, जयन्ती, जया, पीपल, कैथ, इमली, नागकेशर आदि वृक्षों से अतिदुस्तर वनों में विचरतेहुए श्रीरामचन्द्र जी अपने वामभाग में वडेभारी सूकर के कन्धे पर वैठकर घोर शब्द करनेवाले, काक को देखकर ।

दक्षिणतस्तु दक्षिणाचलप्रचलितमलयमालतीमरुचकलवङ्ग-
कंकोलदमनकजातीतगरशतपत्रादिकमलमुकुलकुमुदिनीक-
ह्लारपरिमलमिलितचुम्बितताम्रपर्णीकावेरीतुङ्गभद्रासान्द्र-
गम्भीरनीरधारातरङ्गपरिपीतमैत्रावरुणतरुणीलंकाशशांक-
रुद्रपादाद्रिसरलसिंहलसालकश्रीगोपालकां पाण्ड्यमण्डल-
गिरिप्रवालचोलकुन्तलकेरलपुन्नाटककर्णाटककरहाटविद-
ग्धान्ध्रकामिनीनीरन्ध्रपीनस्तनवदनघनजघनदोर्मूलधम्मि-
ल्लभारान्तराधिष्ठितश्रीखण्डागरुकर्पूरमृगमदकुंकुमस्तोमसंभू-
तयक्षकर्दमविमर्दवर्धितविविधगन्धकुसुमबहुलपरिमलोद्गा-

रिमारुताशनोत्थितक्षीरनीहारकाश्मीरस्फटिकशुद्धशंखकर्पूरकुन्दावदातमहाभुजंगस्फीतफूत्कारप्रफुल्लफणामणौ क्रीडन्तं शोकभञ्जनं खञ्जनं चावलोक्य वामेनाक्ष्णा सकरुणं सवाष्पं च दक्षिणेन सविस्मयं सानन्दमभवदिति ।

और दाहिनी ओर दक्षिणी पवनों से हिलायेहुए मलयाचल के मालती, मरिच, लवंग, कंकोल, कुन्द, चमेली, तगर, शतपत्र कमलों की कली, और चन्द्रविकासी कमल और कह्लारों की सुगन्धि से मिलेहुए, तथा ताम्रपर्णी, कावेरी, तुंगभद्रा आदि नदियों की गहन गंभीर जलधाराओं की तरंगों से मिलीहुई मैत्रावरुण की तरुणी, लंका, शशाङ्क, कैलास, पर्वत, सरल, सिंहलद्वीप, शालक, और श्रीगोपालक देशों की तथा पाण्ड्य गिरिप्रवाल, चोल कुन्तल, केरल कुन्नाटक, करनाटक, करहार देशों की विदग्धा नायिकाओं के छिद्ररहित पुष्ट स्तन, मुख, पुष्ट जंघा, बगलें और शिर की वेनी के भार से मध्य में स्थित चन्दन, अगर कपूर, कस्तूरी, और केशर के समूह से उत्पन्न हुए लेपन को रगडने से बढ़ीहुई अनेकों प्रकार की सुगंध और फूलों की अधिक सुगन्ध को उडानेवाले, पवन के भक्षण करनेवाले, से उठी हुई दूध, बरफ, श्वेत पत्थर, बिलोरी पत्थर, स्वच्छ शंख, कपूर, और कुन्द की समान श्वेत वर्ण वाले अजगर सर्प की भयानक फुंकारों से फैलेहुए फण की मणिपर क्रीडा करतेहुए शोकनाशक ममोले पक्षी को देखकर बांये नेत्र में करुणा के आँसू आकर दाहिना नेत्र अचम्भे के साथ आनन्दयुक्त हुआ ॥

काङ्कः कपोलस्थलसंस्थितो मे कोलस्य वामे व्यसनं सदौस्थ्यम् ।
राज्यं भुजंगस्य फणाधिरूढो व्यनक्त्यहो दक्षिणखञ्जरीटः ॥ २८ ॥

बांई ओर सूकर के कपोल पर बैठाहुआ काक असह्य दुःख को और दाहिनी ओर साँप के फन पर बैठाहुआ ममोला पक्षी मुझे राज्य मिलने का शकुन प्रकट कररहा हैं, मुझे यह दोनों प्रकार के शकुन देखकर बडा आश्चर्य होरहा है ॥२८॥

क्षणं विचिन्त्य विश्रम्य च सबाष्पम्—
भो भो भुजङ्ग तरुपल्लवलोलजिह्व
बन्धूकपुष्पवरशोभितपुष्कराक्ष ।

पृच्छामि ते पवनभोजनकोमलांगी
काचित्त्वया शरदचन्द्रमुखी न दृष्टा ॥ २९ ॥

चिन्ता करतेहुए क्षणभर विश्राम लेकर आँखों में आंसू भरेहुए-अरे २ वृक्ष के पत्ते की समान चञ्चल जीभवाले सर्प, अरे गुडहल की फूल के समान कमलनेत्र वाले! हे पवन के आहारी! मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम ने कोमलाङ्गी सरद् ऋतु के चन्द्रमा की समान मुखवाली कोई स्त्री तो जाती नहीं देखी है ? ॥ २९ ॥

भुजङ्गमः सुवाणीं कथयति-

गता गता चम्पकपुष्पवर्णा पीनस्तनी कुंकुमचर्चितांगी ।
आकाशगंगेव सुशीतलांगी नक्षत्रमध्ये इव चन्द्ररेखा ॥ ३० ॥

(सर्प सुन्दर वचन कहता है) हां हां चम्पे के फूल की समान सुन्दरी घने स्तनवाली शरीर पर कुंकुम से लिप्तहुई, और आकाशगंगा की समान परमशीतल शरीर वाली तारागणों के मध्य के चन्द्रमा की रेखा की समान (दुर्बल) कोई स्त्री इधर को गई है ॥ ३० ॥

रामः-

व्यसनं किमतोऽप्यास्ते ज्ञातश्चाभ्युदयो मम ।
शरणं मरणं राज्यं मा पुनर्लक्ष्मणेऽस्तु तत् ॥ ३१ ॥

राम-क्या इस से भी अधिक दुःख है ? जो कुछ मुझे सुख होनेवाला था उसको भी मैं जानही चुका, क्योंकि मुझे राज्य मिलते २ रहगया अब मैं मरना ही अच्छा समझता हूं, यदि राज्य हो तो वह लक्ष्मण को हो ॥ ३१ ॥

ततो वामं तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य च दक्षिणम् ।
धन्यो वन्यशरण्यां तामरण्यानीं स्म गाहते ॥ ३२ ॥

तदनन्तर अशुभसूचक साँप का तिरस्कार करके और शुभसूचक ममोले पक्षी के शकुन को सामने लेकर वन के रहनेवाले अतिथियों में से श्रीरामचन्द्र जी किष्किन्धा की झाडियों में घूमने लगे ॥ ३२ ॥

किं च–

किष्किन्धाद्रौ रौद्ररुद्रावतारं
दृष्ट्वा रामो मारुतिं वाचमूचे ।
सीता नीता चेनचित्कापि दृष्टा
हृष्टः कष्टं संहरन्प्राह वीरः ॥ ३३ ॥

और उस किष्किन्धा पर्वत पर रौद्र रस के स्वरूप रुद्रावतार पवनकुमार हनुमान् जी को देखकर यह वचन कहनेलगे कि क्या इधर किसी ने कहीं कोई सीता नाम की स्त्री देखी है ? इतना सुनकर वीर हनुमान् जी श्रीरामचन्द्र जी के कष्ट को हरते-हुए से प्रसन्नता के साथ कहनेलगे ॥ ३३ ॥

पापेनाकृष्यमाणा रजनिचरवरेणाम्बरेण व्रजन्ती
किष्किन्धाद्रौ मुमोच प्रचुरमणिगणैर्भूषणान्यर्चितानि ।
हा राम प्राणनाथेत्यहह जहि रिपुं लक्ष्मणेनालपन्ती
यानीमानीति तानि क्षिपति रघुपुरः कापि रामाञ्जनेयः॥ ३४॥

राक्षसों में परमपापी रावण करके हरीहुई हा राम ! हा प्राणनाथ ! हाय ! हाय ! मुझको बडा कष्ट है; इस शत्रु का लक्ष्मणके द्वारा नाश करो, इस प्रकार वार २ विलाप करके आकाशमार्ग से जातीहुई किसी स्त्री ने अनेकों मणियों से जडेहुए अपने जिन गहनों को किष्किन्धा पर्वत पर डालदिया था, इन उनही आभूषणों को कोई अंजनीकुमार श्रीरघुनाथ जी के सामने अर्पण करता है ॥ ३४ ॥

रामः सकरुणं सबाष्पम्–

जानक्या एव जानामि भूषणानीति नान्यथा ।
वत्स लक्ष्मण जानीषे पश्य त्वमपि तत्त्वतः ॥ ३५ ॥

रामचन्द्र–(दीनता के साथ आखों में आँसू भरकर) यह आभूषण जानकी के ही हैं, मैं केवल इतना ही जानता हूँ, और कुछ नहीं, परन्तु भैय्या लक्ष्मण ! तुम भी तो जानते हो, जरा ठीक २ देखो तो सही ॥ ३३ ॥

लक्ष्मणः सबाष्पम्–

कुण्डले नैव जानामि नैव जानामि कङ्कणे ।
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण (आखों में आंसू भरके) नाथ ! मैं कुण्डलों और कङ्कणों को तो जानता ही नहीं (क्योंकि कभी दृष्टि उठाकर ऊपर की ओर को नहीं देखा) केवल पायजेबों को ही जानता हूँ, क्योंकि चरणों में नित्य प्रणाम किया करता था, ॥ ३६ ॥

रामः आभरणानि हृदये विन्यस्य गाढमालिंग्य–

सर्वेषु सत्स्वपि तवाभरणेषु हारो
नारोपितो हृदि चिरं हृदयंगतोऽपि ।
मुक्तार्थसूत्रगुणवेधविशुद्धराशि-
स्तत्पंक्तिभेदफलदारुणमित्यरोदीत् ॥ ३७ ॥

राम–(आभूषणों को हृदय पर रखकर और सबको आलिङ्गन करके) तेरे पास सकल गहनों के होतेहुए, चित्त को प्यारा लगता हुआ, और जिस में मोतियों के पिरोने के डोरे में श्रेष्ठ रत्न पुहरहे थे वह भी हार चिरकाल होगया, परन्तु मैंने तेरे हृदय में न पहराया, (क्योंकि–मैं बीच में हार आपडने के अन्तर को भी नहीं सहसकता था) सो मैंने अन्य आभूषणों को पहराकर हार को जो नहीं पहराया, यह पंक्तिभेद किया, हा ! क्या उस के ही फल से मुझ को यह दारुण दुःख उठाना पडा है, ऐसा कहकर रोपडे ॥ ३७ ॥

पुनरपि–

अहह जनकपुत्री वक्त्रमुद्रामपश्य-
न्व्रजति परमहंसो नाक्षमो वापि गन्तुम् ।
तदुरुविरहवह्निज्वालया दग्धदेहः
किमुत पवनसूनोर्भूषणैस्ताम्भितो मे ॥ ३८ ॥

(फिर कहनेलगे) आह ! मुझ को इतना कष्ट होरहा है, फिर भी जानकी के मुख की छवि को न देखता हुआ यह मेरा परमहंस (जीवरूपी हंस) निकल क्यों नहीं जाता, प्रतीत होता है, यह जानकी के असह्य वियोग की ज्वाला से भस्मीभूत होने के कारण जाने में असमर्थ होगया है या पवनसूनुके आभूषणलाने से रुकगया है ॥ ३८ ॥

हनुमान्सानुनयम्—

श्रीराम क्षोणिपाल त्यज निजदयिताशोकमेकः सलोकं
लंकेशं जेतुमीशे तमपि कपिपतेराज्ञयाहं हनूमान् ।
सुग्रीवस्याथ सार्धं गिरिमवतरणं पादविन्यासलक्ष्मी-
निक्षेपादुत्पलाक्ष क्षपितारिपुबलं दर्शनं त्वं च देहि ॥ ३९ ॥

हे पृथ्वीनाथ श्रीराम ! आप जानकी का शोक न करें, कपिराज सुग्रीव की आज्ञा से अकेला मैं हनुमान् ही लंकावासी राक्षसों के सहित लंकेश रावण को जीतसक्ता हूँ, अब आप सुग्रीव के भवनरूप पर्वत पर चलकर उसको अपने चरण-अर्पण की शोभा से कृतार्थ करिये, हे कमलनयन ! आप के दर्शनमात्र से शत्रुओं का बल नष्ट होजाता है ॥ ३९ ॥

ततो हनूमान्सह लक्ष्मणेन रामेण सुग्रीवपुरःस्थितोऽभूत् ।
तांस्तत्र साक्षात्कपियूथनाथः पापानि दग्धुं दहनं ददर्श॥४०॥

तदनन्तर—श्रीराम और लक्ष्मण को साथ लिये हनुमान् सुग्रीव के सम्मुख जापहुँचे उस समय कपिदलनायक सुग्रीव ने इन तीनों को त्रिविध तापों को भस्म करने के निमित्त आयेहुए दक्षिण गार्हपत्य और आहवनीय अग्निरूप समझा॥४०॥

श्रुत्वा रामस्य कान्ताहरणमनिलजस्याननाद्वानरेन्द्रो
निःश्वस्यात्मीयमस्यानुवदति पुरतस्तद्बलाद्वालिनोऽपि ।
हा नाथे विद्यमाने किमिति रघुपतिस्तं निहन्तुं प्रतिज्ञा-
मारूढः प्रौढरोपानलबहलकलालंकृतोऽधिज्यधन्वा ॥ ४१ ॥

पवनकुमार के मुख से श्रीरामचन्द्र जी की स्त्री का हरण सुनकर वानरराज सुग्रीव ने लम्बी श्वास ली, और इनको वालिसे अपनी स्त्री के हरण का वृत्तान्त सुनाकर कहनेलगा कि हा ! आपसे स्वामी के होतेहुए मेरी यह दशा क्यों है ? उसी समय श्रीरघुनाथ जी ने परम क्रोधाग्नि से जाज्वल्यमान होकर धनुष पर रोदा चढ़ातेहुए वालि का वध करने की प्रतिज्ञा की ॥ ४१ ॥

नत्वा ससंभ्रममथो जगदेकवीर-
मालिंगयन्रघुपतिं शुशुभे कपीन्द्रः ।
तद्विस्मृतं पुनरिवाभ्यसते प्रियायाः
कन्दर्पकेलिषु पुनर्द्रुतभाविनीषु ॥ ४२ ॥

उस समय सुग्रीव जगत् में एक वीर श्रीरघुनाथ जी को आदर सहित प्रणाम करके आलिङ्गन करतेहुए ऐसी शोभा को प्राप्तहुए कि मानो चिरकाल से प्रिया का वियोग होने के कारण विस्मृत हुए और फिर शीघ्र ही प्राप्त होनेवाली कंदर्प-क्रीडाओं में के प्रिया के आलिङ्गन का अभ्यास कररहे हैं ॥ ४२ ॥

सुग्रीवः—

अये मरुत्तनय कोऽसौ चतुर्णां ताटकान्तकः ।

सुग्रीव—अयि पवनकुमार ! इन चारों दशरथराजकुमारों में से ताडका का वध करनेवाले कौनसे हैं ?॥

मारुतिः—

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसन्तानवल्ली-
मालाम्लानस्तवकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामभवदमलस्ताटकाकालरात्रि-
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ॥ ४३ ॥

हनुमान्—सूर्यवंशीय क्षत्रियों की सन्तानरूप लतामाला के खिलेहुए पुष्पगुच्छक में भौंरेरूप जो चार कुमार महाराज दशरथ के यहां उत्पन्न हुए हैं, उनमें यह निर्मल श्रीरामचन्द्र जी ताडकारूप कालरात्रि को नाश करने के लिये प्रातःकाल-रूप और श्रेष्ट चारित्रवाली कथारूप कन्दली के मूलकन्द हैं ॥ ४३ ॥

ततः—

श्रुत्वा वाली तदनु महतीं राघवस्य प्रतिज्ञां
तालान्सप्त प्रकृतिकुटिलान्प्रेरयामास योद्धुम् ।
सौमित्रिस्तानकृतसरलाञ्शेषपृष्ठस्थमूला-
न्भारेणांघ्रेरथ रघुपतिः संदधे दिव्यमस्त्रम् ॥ ४४ ॥

(तदनन्तर) वाली ने रघुनाथ जी की महती प्रतिज्ञा को सुनकर स्वभाव से कुटिल सात तालों को युद्ध करने के लिये भेजा, लक्ष्मण जी ने जिनकी जड़ शेष जी की पीठ पर स्थित थी, उन सातों तालों को चरण के भार से सूधा करदिया, तब रघुनाथ जी ने अपने दिव्य अस्त्र को सम्हाला ॥ ४४ ॥

लक्ष्मणः सशंकं रामं प्रति । देव ज्ञात्वा बाणः प्रहर्त्तव्यः ।
यतः—एकदैव शरेणैकेनैव भिन्नकलेवराः ।
म्रियन्ते सप्त तालास्तं घ्नन्ति हन्तारमन्यथा ॥४५॥

लक्ष्मण—(शङ्कित होकर श्रीरामचन्द्र जीसे) महाराज ! समझकर बाण छोडना चाहिये, क्योंकि—एक समय ही एक ही बाण से यदि इन सातों तालों का शरीर वेधा जायगा तो मरसकते हैं, नहीं तो प्रहार करनेवाले का ही वध करेंगे॥४५॥

रामः सावज्ञम्—

मा भैषीर्मयि सौमित्रे राघवेऽधिज्यधन्वनि ।
सतां देहं परित्यज्य निर्जगामासतां भयम् ॥ ४६ ॥

राम—(अवहेलना के साथ) लक्ष्मण ! भय न मानो मुझ रघुवंशी के धनुष चढ़ाने पर भय सत्पुरुषों के शरीर को छोडकर परस्त्रीहरण करनेवाले वाली समान दुर्जनों के शरीर में चलागया ॥ ४६ ॥

रामः करेण बाणमालभ्य—

भावोऽस्ति चेत्कुशिकनन्दनपादयोर्मे
यद्यस्म्यहं द्विजतिरस्कृतिरोषहीनः ।

नान्यांगनासु च मनः शर सप्त ताला-
न्भित्त्वा तदा प्रविश भूतलमप्यगाधम् ॥ ४७ ॥

(वाण को हाथ से छूकर) यदि विश्वामित्र जी के चरणों में मेरी भक्ति है, यदि मैं ब्राह्मणों के तिरस्कार को भी सहकर क्रोध नहीं करता हूँ, और यदि मेरा मन कभी भी परस्त्रियों पर नहीं चला है, तो रे बाण! तू इन सातों तालों को फोडकर आगाध भूतल में घुसा चलाजा ॥ ४७ ॥

एकेनैव शरेण बालकदलीकाण्डप्रभंगक्रमा-
त्कृत्तेषु प्रथमेषु दाशरथिना तालेषु सप्तस्वथ ।
अश्वाः सप्त जगन्ति सप्त मुनयः सप्ताब्धयः सप्त गाः
सत्यं सप्त च मातरो भयभृतः संख्यानसाम्यादिह ॥४८॥

एक ही वाण से कोमल केले के खम्भों के काटने के समान जब श्रीरामचन्द्र जी ने सातों को काटडाला, तब सात संख्या की समता से भयभीत हुए सूर्य के सातों घोडे, सात लोक, सप्त ऋषि, सातों समुद्र, सातों द्वीप, सातों पर्वत, और सातों माता यह सब निस्सन्देह काँपउठे ॥ ४८ ॥

रामबाणः सक्षोभम्-

वाणः प्रमाणमधिगम्य वसुंधरायाः
संबोधयन्निव भुजङ्गमभङ्गभीत्या ।
ब्रह्माणमम्बरचरान्विधुनोति पक्षा-
न्पुंखावशेष इति रामकराद्विमुक्तः ॥ ४९ ॥

राम का वाण-(क्षोभ के साथ) श्रीरामचन्द्र जी के हाथ से छूटकर पृथ्वी की गहराई समान लम्बा हो शेष जी के नाश होने के भय से पक्षमात्र ऊपर शेष बचेहुए अपने भाग को आकाशव्यापी पक्षों को सरसराता हुआ मानो ब्रह्मा जी को पुकारनेलगा ॥ ४९ ॥

पौरंदरिः सक्रोधम्-

श्रुत्वा हतान्समरमूर्धनि सप्त ताला-
न्रामेण पापहृदयेन विनापराधम् ।
क्रोपानलज्वलितहृत्कमलोऽथ वाली
रङ्गावतारसगमद्गिरिचत्वरेषु ॥ ५० ॥

वाली-(क्रोध में भरकर) क्रोधयुक्त हृदयवाले श्रीरामचन्द्र जी के द्वारा निर-पराध सात तालों का वध सुना और क्रोधाग्नि से भस्म होनेलगा है हृदय कमल जिस का ऐसा वह बाली पर्वत के मैदानों में संग्राम करने को उतर आया॥५०॥

तारा सहर्षम्-

अवश्यं भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य रामचन्द्रस्य प्रसादादद्य चिरविरहिणः प्राणवल्लभस्य सुग्रीवस्य वक्षःपीठे लुठि-ष्यामीति मन्यमाना गिरिवरशिखरमारुह्य रामपौरन्दरि-समरमाकांक्षती चिन्तयामास-

तारा-(हर्ष के साथ) अवश्य ही भगवान् पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी के अनु-ग्रह से आज चिरकाल के विरही प्राणप्यारे सुग्रीव के वक्षःस्थल में शयन करूँगी, ऐसा मानतीहुई श्रेष्ठ पर्वत के शिखर पर चढ़कर, रामचन्द्र और वाली का युद्ध होने की इच्छा करतीहुई विचारने लगी ।

तारा संत्यक्तहारा गिरिशिखरचरा स्रस्तधम्मिल्लभारा
शोकाब्धिप्राप्तपारार्पितमदनशरा वीरसुग्रीवदाराः ।
नारा नाराचधारा निजरमणरता तापिनः पापिनोऽस्य
प्राणाञ्छाणावतीर्णा हरतु कलिकलाशालिनो बालिनोऽद्य ५१

हार को त्याग पर्वतों के शिखरों में घूमती, जिसके केश बिखरेहुए हैं, शोक-समुद्र के पार को पानेवाली कामदेव के बाण से बिंधीहुई, अपने पति में प्रेम कर-

नेवली तारा (मन में विचारनेलगी कि) आज शान पर धरेहुए, राम के बाणोंकी धार दुःख देनेवाले, कलियुगी कार्य करनेवाले, इस पापी वाली के प्राणोंको हरलेवे ॥ ५१ ॥

रामः सक्षोभं पौरन्दरिं गिरिगरिमगम्भीरमहिमानमवलोक्य सौमित्रिमित्रमनुस्मृत्याब्रवीत् वत्स–

किं वाली वानरालीवहलकलकलाहूतदेवेन्द्रवज्रं
वाञ्छत्याकृष्य योद्धुं शिवशिव तुमुलोत्कालसंचालितार्कः ।
शेषल्लांगूलवल्लीशिखरकवलितं चण्डदोर्दण्डकाण्ड-
भ्रान्तामूलाग्रशैलप्रहरणनिपुणः केन योद्धव्य एषः ॥ ५२ ॥

रामचन्द्र–क्रोधके साथ पर्वत के समान भारी और गम्भीर महिमायुक्त, इन्द्रकुमार वाली को देखकर लक्ष्मण जी को मित्रसमान मानकर कहनेलगे कि हे तात ! जो वानरों के समूहों के कलकल शब्दसे पुकारेहुए देवराज के वज्र को ऊपर को वेग से जातीहुई पूछ के लपेट में डाल और छीनकर युद्ध करना चाहता है, जो भयानक पराक्रम से सूर्य को भी चलायमान करदेता है, जिसको प्रचण्ड भुजदण्ड के बाण का घमण्ड है, और जड से उखाडेहुए पर्वतों के द्वारा युद्ध करने में परमचतुर है, ऐसे इस वालि के साथ शिव शिव भला कौन युद्ध करसकता है, और इस के साथ युद्ध करनेके लिये कौनसा शस्त्र काम में लाना चाहिये ॥ ५२ ॥

सावष्टम्भं नारायणं बाणमादाय–

वेदोद्भवैर्द्विजगणेन पुराभिषिक्तो
मूर्धा समं त्वमपि बाणगुणेन मन्त्रैः ।
तत्तेजसा परवधूजनहारिणस्त्वं
प्राणान्गृहाण समरेष्वतिदारुणस्य ॥ ५३ ॥

(धैर्य के साथ नारायणबाण को लेकर) हे बाण ! पूर्वकाल में ब्राह्मणों ने वेदमन्त्रों के द्वारा प्रत्यंचासहित तेरा मूर्धाभिषेक किया है, उसी तेज से तू इस संग्राम में परस्त्रीहरण करनेवाले अतिकठोर वाली के प्राणों को ले ले ॥ ५३ ॥

रामबाणः—पौरन्दरिश्च ब्रह्मतेजोभिगम्य परदारापहरण-
पराभवं च—

अथ रघुपतिबाणः प्राप्तवीरप्रमाणः
प्रलयदहनरोचिः कोटिविद्युन्मरीचिः।
अकृत हृदयभेदं वालिनः सोऽप्यरोदी-
दनिहतपितृशत्रुः किं सशल्यो हतोऽस्मि ॥ ५४ ॥

रामचन्द्रजी का बाण ब्रह्मतेज को और वालि परस्त्रीहरण के कारण तिरस्कार को प्राप्त होकर—

अनन्तर वीर वाली की थाह पायेहुए प्रलयकाल की अग्नि की समान जाज्वल्यमान करोडों बिजलियों के समान चौंधातेहुए रघुनाथ जी के बाण ने वालि के हृदय को फाडडाला तब वह वालि भी रोकर यह कहने लगा कि हाय ! मैं पिता इन्द्र के शत्रु रावण को विनामारे ही क्यों मारागया, यह कांटा तो मरकर भी मेरे चित्त में खटकता ही रहैगा ॥ ५४ ॥

रामः सकरुणं सविषादं च—

वत्स सौमित्रे गिरिगह्वरेषु स्वयोनिविहितं महत्सुखमनुभवन्तं महावीरं अनपराधिनं वालिनं हत्वा मन्दभाग्यः कथमहं जानकीसुखमनुभविष्यामीति शिरो धुन्वन्पौरन्दरिं व्याजहार-

शस्त्रौघप्रसरेण रावणिरसौ यो दुर्यशोभागिनं
चक्रे गौतमशापयन्त्रितभुजस्थेमानमाखण्डलम्।
कक्षागर्तकुलीरतां गमयता वीर त्वया रावणं
तत्संमृष्टमहो विशल्यकरणो जागर्ति सत्पुत्रता ॥ ५५ ॥

राम—(दया और खेद के साथ) तात लक्ष्मण ! पर्वतों की गुफाओं में अपनी योनि के लिये विहित परमसुख का अनुभव करतेहुए महावीर निरपराध वालि को मार कर मैं अभागा किसप्रकार जानकी के सुख को भोगसकूँगा, इतना कह अपना शिर

धुनतेहुए वालि से कहनेलगे कि–हे वानर ! वीर ! जिस रावणकुमार मेघनाद ने अनेकों शस्त्रों का प्रहार करके गौतम के शाप से रुका है भुजबल जिसका ऐसे इन्द्र का अपयश किया, उस इन्द्र के अपयश को, बगल के भीतर रावण को कीडे की समान दाबनेवाले तुमने धोकर दूरकरदिया और यह तुम्हारा सत्पुत्र अंगद तुम्हारे कांटे को दूर करने के लिये जीवित ही है ॥ ५५ ॥

वाली प्राणांस्त्यक्तुमिच्छन्–

सुग्रीवोऽपि क्षमः कर्तुं यत्कार्यं तव राघव ।
किमहं न क्षमः कस्मादपराधं विना हतः ॥ ५६ ॥

वाली–(प्राणों को त्यागने की इच्छा करताहुआ) हे राघव ! आप के जिस कार्य को सुग्रीव करसकता है, उस को क्या मैं नहीं करसक्ता था, फिर विना अपराध के मुझे किस कारण से मारा ॥ ५६ ॥

रामः सबाष्पम्–

शुद्धिर्भविष्यति पुरन्दरनन्दन त्वं
मामेव चेदहह पातकिनं शयानम् ।
सौख्यार्थिनं निरपराधिनमाहनिष्य-
स्यस्मात्पुनर्जनकजाविरहोऽस्तु मा मे ॥ ५७ ॥

राम–(नेत्रों में आँसू भरकर) हे इन्द्रनन्दन वाली ! जब तू मुझ पातकी निरपराधीको सुख की इच्छा से सोते में मारेगा. तब ही मेरे चित्त की शुद्धि होगी,इस तेरे मारने के अपराध से अब फिर मुझ को जानकी का विरह न हो ॥ ५७ ॥

पौरन्दरिः–

तथेत्युक्त्वा पुनः स्वर्ग्या गतिस्ते न भविष्यति ।
यावत्त्वां न हनिष्यामि स्थास्यसि त्वं यमालये ॥ ५८ ॥
इति प्राणान्मुमोच ।

वाली–तथास्तु कहकर बोला कि–जबतक मैं आप का वध न करूं, तबतक आप निजधाम को न पधारें, किन्तु भुवर्लोक में अवतार धारते रहें, ऐसा कहकर प्राण छोडदिये ॥ ५८ ॥

हनूमान् स्वगतम्—

दासैरहो रघुपतिः परिभूयते किं
वैवस्वतादिभिरुवास तदालयेऽपि ।
यो देववाक्यमनतिक्रमयन्कियन्तं
कालं निहत्य पुरुहूतसुतं तु देवः ॥ ५९ ॥

हनुमान्—(मन ही मन में) जो देव रामचन्द्र जी देवताओं के कथन को पालन करने के निमित्त वालि को मारकर, वैवस्वतादि के सहित उन के स्थान में निवास करतेहुए, आश्चर्य है क्या वह रघुनाथ जी दासों से तिरस्कार किये जाते हैं ॥ ५९ ॥

रामः कथंचिद्विषादं परित्यज्य पौरुषमवलम्ब्य—

राज्ये सुग्रीवमादौ सदयितमभिषिच्याङ्गदं यौवराज्ये
रामः सेनाधिपत्ये सपवनतनयान्वानरेन्द्रान्प्रतस्थे ।
लंकां संत्यज्य शंकां तदनु कपिभटैर्माल्यवत्युत्तमाद्रौ
वर्षाकालं गमयितुमचिरान्मन्त्रिभिः संमतोऽभूत् ॥ ६० ॥

रामचन्द्र—(किसीप्रकार खेद को त्याग और धैर्य धरकर) पहिले स्त्री सहित सुग्रीव को राज्य पर और अंगद को युवराज पदपर तथा पवनकुमारसहित वानरेन्द्रों को सेनापतियों के पदों पर अभिषेक करके निःशंक हो लंका पर चढ़ाई करचले इतना विचार होने पर वीर वानरों ने वर्षाकाल को तिस माल्यवान् पर्वत पर विताने की ही सम्मति दी, और रामचन्द्र जी ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया ॥ ६० ॥

रामात्परः शूरतरो न कश्चित्पराभवः स्त्रीहरणान्न चान्यः ।
तथापि नाब्धिं प्रविवेश रामो बबन्ध सेतुं विजयासहिष्णुः ६१

श्रीरामचन्द्र जी से बढ़कर कोई परमशूरमा नहीं है, और परस्त्रीहरण से बढ़कर और कोई तिरस्कार नहीं है, तथापि श्रीरामचन्द्रजी ने समुद्र में प्रवेश नहीं किया किन्तु सेतु ही बाँधा ॥ ६१ ॥

अपि च-

रामाद्बलीयान्न परोऽत्र कश्चिद्दारापहारान्न परोऽभिमानः ।
तथापि रामः शरदं प्रतीक्ष्य बद्ध्वाम्बुधौ सेतुमरिं जगाम ॥ ६२ ॥

(और भी) इस संसार में श्रीरामचन्द्र जी से बढकर कोई बली नहीं है, और स्त्री को हरलेने से बढकर कोई अभिमान नहीं है, तथापि श्रीरामचन्द्र-जी ने वर्षाकाल की बाट देख, समुद्र में सेतु बांधकर ही शत्रु पर चढाई की ॥ ६२ ॥

रामस्तत्र जनकतनयाकमनीयतामनुस्मृत्य-

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन गलिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा ।
पारुष्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतस्तु हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥ ६३ ॥

राम-(तहाँ जानकी की कमनीयता का स्मरण करके) जानकी के सामने चन्द्रमा मानो अंजन से पुतगया, हरणियों की दृष्टि मानों नीचे को झुकगई, मूगों की लाली मानो अतिमलिन होगई, सुवर्ण की आभा मानो काली पड-गई और प्रिया के थोडेसे भाषण के सामने ही कोकिलाओं के कंठों में मानो कठोरता प्रतीत होने लगी, तथा मोरों की चन्द्रकायें निन्द-नीय होगईं ॥ ६३ ॥

रामः कादम्बिनीताण्डवाडम्बरं विलोक्य-

यत्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी ।
येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥ ६४ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके वालिवधो नाम पञ्चमोऽङ्कः ॥ ५ ॥

फिर (मेघमाला के परम आडम्बर को देखकर) यह जो तेरे नेत्रों की समान कान्तीवाला प्रसिद्ध नीलकमल जल में डूबगया, और हे प्रिये तेरे मुख की कान्ति का अनुकरण करनेवाला चन्द्रमा भी मेघों से छुपगया, तथा तेरे गमन की समान चलनेवाले जो राजहंस थे वह भी चलेगये इस से प्रतीत होता है कि, तेरी समतावाले जिन पदार्थों से मैं जी बहलाता था मेरे उस विनोद को भी देव नहीं सहसकता है ॥ ६४ ॥

इति भाषाटीकामें वालिवध नामक पञ्चम अंक समाप्त ।

षष्ठोऽङ्कः ।

रामः वानरभटानाचष्टे । भो भो सुग्रीवसैनिकाः शृणुत–

व्यसने महति प्राप्ते स्थिरैः स्थातुं न युज्यते ।
लंकां निःशंकमालोक्य क इहागन्तुमर्हति ॥ १ ॥

राम–वीर वानरों से कहनेलगे कि–रे रे सुग्रीव के सैनिको सुनो बडीभारी विपत्ति आपडने पर धैर्यवान् पुरुष भी स्थिर नहीं रहसकते हैं,सो तुम में कोई ऐसा धैर्यवान् है कि जो निःशंक लंका को देखकर फिर यहीं लौट आनेकी शक्ति रखता हो ॥१॥

हनूमान् (सहर्षं दोस्तम्भास्फालनकेलिमभिनीय निज-प्रचण्डदोर्दण्डयोर्महतीं प्रौढिं नाटयति । देव पश्य–)

अष्टांगुलमयः कायः पुच्छो मे द्वादशांगुलः ।
बाहू मे पश्य भो नाथ कथं रत्नाकरं तरेः ॥ २ ॥

हनूमान्–(बडी प्रसन्नता के साथ भुजदण्डों को ताल देने का अभिनय करके) अपने भुजदण्डों की परम प्रौढी दिखातेहुए कहनेलगे कि, भगवन् देखिये ! मेरा शरीर आठ अंगुल का और पूंछ बारह अंगुल की है, तथा मेरी भुजाओं को भी देखलीजिये, तथापि हे नाथ ! देखिये मैं समुद्र को कैसा तरता हूं ॥ २ ॥

रामचन्द्रः सविस्मयो बभूव–

ततो जाम्बवान् । देव रुद्रावतारोऽयं मारुतिः रुद्रस्तुतिः क्रियताम् । रामचन्द्रो रुद्रस्तुतिं कृत्वा भो भो मारुते, त्वया विहीनः कः कर्तुं समर्थोऽस्ति । तत्र हनूमान्महावीराद्भुतपराक्रमः । सहर्षं वाक्यम् । देवाकर्णय–

श्रीरामचन्द्र जी आश्चर्य में होगये तब जाम्बवान् ने कहा कि--हे देव ! यह पवनकुमार रुद्र के अवतार हैं, इसकारण रुद्रदेवकी स्तुति करना चाहिये, तब श्रीरामचन्द्र जी रुद्रदेव की स्तुति करके कहनेलगे कि भो भो पवनकुमार तुम्हारे सिवाय इस कार्य को कौन करसकता है ? तब महावीर अद्भुतपराक्रमी हनूमान् जी परम प्रसन्न होकर यह वाक्य बोले कि हे देव ! सुनिये--

कूर्मो मूलवदालवालवदपां नाथो लतावद्दिशो
मेघाः पल्लववत्प्रसूनफलवन्नक्षत्रसूर्येन्दवः ।
स्वामिन्व्योमतरुर्मम क्रमतले श्रुत्वेति गां मारुतेः
सीतान्वेषणमादिशन्दिशतु वो रामः सहर्षः श्रियम् ॥ ३ ॥

कूर्म जिस की जडसमान है, समुद्र जिसके थामले की समान हैं, दिशायें जिस की लता की समान हैं, मेघमण्डल जिस के पत्तों की समान हैं, तारागण और सूर्य जन्द्रमा जिस के फूल फलों की समान हैं, हे नाथ ! ऐसा आकाशरूपी वृक्ष मेरे चरण उठाने और रखने के नीचे दवाहुआ है, पवनकुमार के ऐसे कथन को सुनकर जिन्हों ने सीता की खोज करने को आज्ञा दी, वह प्रसन्नतायुक्त श्रीरामचन्द्र जी तुम को लक्ष्मी दें ॥ ३ ॥

देवाज्ञापय किं करोमि सहसा लंकामिहैवानये
जम्बूद्वीपमितो नये किमथवा वारांनिधिं शोषये ।
हेलोत्पाटितविन्ध्यमन्दरगिरिः स्वर्णत्रिनेत्राचल-
क्षेपक्षुण्णविवर्तमानसलिलं बध्नामि वारांनिधिम् ॥ ४ ॥

(हनुमान्) महाराज! आज्ञा दीजिये मैं कौन कार्य करूँ क्या अभी लंका को ही यहां उठालाऊं, या जम्बूद्वीप को लंका क समीप पहुंचा दूं, अथवा समुद्र को सुखाडाल्दूं, या कहिये तो सहज में ही उखाडेहुए विन्ध्य, मंदराचल, सुमेरु, और कैलाश को डालने से जल को विलोडने से समुद्र को पाट दूं॥ ४ ॥

अपि च–

देवाज्ञां देहि राज्ञां त्वमसि कुलगुरुः शोषये किं पयोधिं
किं वा लंकां सलंकाधिपतिमुपनये जानकीं मानकीर्णाम् ।
सेतुं बध्नामि मत्तः स्फुटितगिरितटीभूतभङ्गातरङ्गा-
दुद्भ्राम्यन्नक्रचक्रोऽपि च मकरकुलग्राहचीत्कारघोरम् ॥५॥

(और भी) अब मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं समुद्र को सुखाऊं, या रावण सहित लंकापुरी को ही यहाँ लेआऊं, या पतिव्रत धर्म में बढीहुई जानकी माता को लिवा लाऊं, अथवा कहिये तो समुद्र का पुल बांध डाल्दूं जिस से कि अभी मेरे तोडेहुए पर्वतों के शिखरोंसे समुद्रमें के जलजंतुओं का नाश होनेलगे, और तरंगों के साथ उछलते हुए नाके मच्छ और ग्राहों के समूहों का घोर चीत्कार होनेलगे ॥ ५ ॥

किं प्राकारविहारतोरणवतीं लंकामिहैवानये
किं वा सैन्यसमुद्धृतं च सकलं तत्रैव संपादये ।
हेलान्दोलितपर्वतोच्चशिखरैर्बध्नामि वारां निधिं
देवाज्ञापय किं करोमि सकलं दोर्दण्डसाध्यं मम ॥ ६ ॥

हे देव! क्या पर्कोटे, विहार के स्थान और बडे २ द्वारोंवाली, लंका को भी यहाँ लेआऊँ, या रावण की सब सेना को तिस लंकापुरी में ही नष्ट कर डाल्दूं अथवा सहज में ही उठायेहुए पर्वतों के ऊंचे २ शिखरों से समुद्र को पाट दूं हे देव! आज्ञा दीजिये मैं क्या करूं इन मेरे भुजदण्डों से सब कुछ होसक्ता है ॥ ६ ॥

रामः सत्वरं करमुद्रां समुद्धृत्य, वीरमारुते–

मुद्रां समुद्रमुल्लंघ्य शीघ्रमाश्वास्य जानकीम् ।
विन्यस्य पुरतस्तस्या आगच्छ मयि जीवति ॥ ७ ॥

रामचन्द्र शीघ्र ही हाथ में से अंगूठी उतार कर कहनेलगे कि हे पवनकुमार ! यह अंगूठी ले और शीघ्र ही समुद्र को लांघ जानकी को धैर्य दे और उस के सामने इस को रखकर मेरे जीवतेहुए ही शीघ्र लौट आओ ॥ ७ ॥

हनूमांस्तथेति श्रीरामसुग्रीवौ प्रणम्य समादाय मुद्रां समुद्रोपकण्ठं पीठावतारमासाद्य सद्योचिन्तयत्–

एते ते दुरतिक्रमाः क्रममिलद्घूर्णोर्मिमर्मच्छिदः
कादम्बेन रजोभरेण ककुभो रुन्धन्ति झञ्झानिलाः ।
गाढाम्रेडनरूढनीरदघटासंघट्टनीलीभव-
द्व्योमास्फोटकटाहनिर्झरपयोवेणीकणग्राहिणः ॥ ८ ॥

हनुमान्–श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा को तैसे हो मानकर, श्रीरामचन्द्र और सुग्रीव को प्रणाम कर तथा अंगूठी को लेकर समुद्र के एक ऊंचे स्थान पर आपहुंचे और सहसा विचारनेलगे, कि यह कठिन से लांघनेयोग्य क्रम से मिलकर घूमतीहुई तरंगों के द्वारा लोकों के मर्मस्थान में पीडा पहुंचानेवाले बडीभारी आंधी के मिलने से बढीहुई मेघघटा के संयोग से श्यामवर्ण हुए आकाश में झझरे ब्रह्म-कटाह में से टपकतेहुए गंगा के प्रवाहके जलकणों को ग्रहण करनेवाले यह वर्षा के पवन कदम्ब के रजों से दिशाओं को ढकते हैं ॥ ८ ॥

धैर्यमवलम्ब्योद्यल्लांगूलास्फालकेलिव्याकुली-कृताम्बरचरः सज्जो बभूव–

अथ सविलसदम्भःस्तम्भिताक्षिप्रकाशं
जलचरखलखेलास्फालवाचालिताशम् ।
जलनिधिमधिवीरोल्लंघितुं जांघिकत्वं
खगपतिरिव चण्डोड्डीनमङ्गीचकार ॥ ९ ॥

धैर्य धर कर ऊपर को उठीहुई पूंछ को हिलाने की क्रीडा से आकाशचारी जीवों को व्याकुल करतेहुए, तैयार होगये और जल के विलास से नेत्रों की दृष्टि को चौंधानेवाले और जलचरों की निरन्तर क्रीडा के उत्पातों से दिशाओं को शब्दायमान करतेहुए समुद्र को लांघने के लिये हनुमान् जी शीघ्रगामी गरुड जी की समान आकाश में उडने की प्रचण्डगति से चलदिये ॥ ९ ॥

लांगूलोत्तालकेतुर्नभसि पृथुगतिः स्फारसीमन्तिताभ्रः
स्फूर्जत्प्रौढोरुवेगोल्ललितजलनिधिः पृष्ठकृष्टोग्रसत्त्वः ।
दूरात्सिन्दूरपूरारुणमरुणरुचिस्तेजसः संविभागै-
श्चक्रे दिग्वारणानां कटितटमभितः सूर्यविद्धाम्बुदाभम् ॥ १० ॥

आकाश में पताका की समान पूंछ को उठाये, बडी बडी डिगों से छलांगें मारते कुलाचों से मेघों को फाडते दौड़ते जंघाओं के परमवेग से समुद्र के जल को उछालते पीठ से बडे बडे राक्षसों को खैंचते सिन्दूर की समान रक्तवर्ण दिग्गजों के कटितटके चारों ओर अपने शरीर की कान्ति को फैलाकर सूर्ययुक्त मेघमण्डल की समान दृश्य करतेहुए हनुमान् जी चलनेलगे ॥ १० ॥

तत्रावसरे समुद्रादुत्थितो मैनाकः—

विश्रान्तस्तत्र हर्षात्सपदि जलधिना प्रेरितो रत्ननाभो
मैनाकः काञ्चनाङ्गस्तुहिनगिरिसुतः प्राह दूरागतस्त्वम् ।
हंहो दूराध्वखेदं जहि मम शिखरे प्राप्य तस्येति वाचं
स्पृष्टांगुल्या तदग्रं भुजरयपवनापूरिताशं जगाम ॥ ११ ॥

उसी समय मैनाक समुद्र में से उठकर कहनेलगा कि हे पवनकुमार पक्ष काटनेवाले इन्द्र के भय से मैं यहां छुपाहुआ रहता हूं मेरी नाभी में अनेकों रत्न हैं मैं हिमालय का पुत्र सुवर्ण के शरीरवाला मैनाक, समुद्र की प्रेरणा से आप से प्रार्थना करता हूं कि तुम दूर से आये हो मेरे शिखर पर ठहरकर मार्ग के श्रम को दूर करो इस की यह वाणी सुन पवनकुमार ने उस के शिखर के अग्रभाग को चरण की अंगुलि से छूदिया, और भुजाओं की वेग की पवन से दिशाओं को भरतेहुए आगे को चलदिया ॥ ११ ॥

वेलातटे शालतमालमालां विलोकमानः सहसाञ्जनेयः।
उल्लोलयन्वालधिवल्लिमुच्चैः कल्लोलिनीवल्लभमुल्ललंघे ॥ १२ ॥

समुद्र के तट पर शाल और तमाल के वृक्षों की पंक्ति को देखतेहुए अंजनी-पुत्र हनुमान् जी पुच्छलता को ऊपर फहरातेहुए अनायास में ही नदीनाथ समुद्र के पार होगये ॥ १२ ॥

अथ दशरथसूनोराज्ञया वायुपुत्रो
रजनिचरपुरीमालोक्य भूत्वा द्विदंशः।
अकलितपरिमाणो मात्रया सत्रपस्तां
क्षिपति जनकजाग्रे शिंशपाग्रावतीर्णः ॥ १३ ॥

इस के अनन्तर पवनकुमार ने दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा के अनुसार राक्षसपुरी लङ्का को देखकर मच्छर की समान रूप धार गणना के अयोग्य शरीर के आकार से लज्जायुक्त अशोक के वृक्ष से उतर उस मुद्रिका को जानकी के आगे डालदिया ॥ १३ ॥

जानकीं नमस्कृत्य मारुतिः—
मातर्जानकि को भवानिह मृगः, केनात्र संप्रेषित-
स्त्वद्दौत्येन रघूत्तमेन किमिदं हस्तेऽस्ति तन्मुद्रिका।
दत्ता तेन तवैव तां निजकरादालभ्य चालिंग्य च
प्रम्णाश्रूणि ससर्ज सम्यगुदभूद्गात्रेषु रोमोद्गमः ॥ १४ ॥

जानकी को प्रणाम करके पवनकुमार—

मातः जनकनन्दनी!। जानकी—तू कौन है यहां?। हनुमान्—वानर। जानकी—यहां किसने भेजा है?। हनुमान्—तुम्हारा सन्देशालेकर रघुनाथ जी ने। जानकी—यह हाथ में क्या है?। हनुमान्—उन की अंगूठी है और उन्होंने तुम्हारे ही लिये दी है, जानकी—उस अंगूठीको अपने हाथ से उठा और हृदय से लगाकर प्रेम के कारण आंसू गिरानेलगीं तथा उनके अंगो पर भलीप्रकार रोमांच हो आये ॥ १४ ॥

धैर्य धर कर ऊपर को उठीहुई पूंछ को हिलाने की क्रीडा से आकाशचारी जीवों को व्याकुल करतेहुए, तैयार होगये और जल के विलास से नेत्रों की दृष्टि को चौंधानेवाले और जलचरों की निरन्तर क्रीडा के उत्पातों से दिशाओं को शब्दायमान करतेहुए समुद्र को लांघने के लिये हनुमान् जी शीघ्रगामी गरुड जी की समान आकाश में उडने की प्रचण्डगति से चलदिये ॥ ९ ॥

लांगूलोत्तालकेतुर्नभसि पृथुगतिः स्फारसीमन्तिताभ्रः
स्फूर्जत्प्रौढोरुवेगोल्ललितजलनिधिः पृष्ठकृष्टोग्रसत्त्वः ।
दूरात्सिन्दूरपूरारुणमरुणरुचिस्तेजसः संविभागै-
श्चक्रे दिग्वारणानां कटितटमभितः सूर्यविद्धाम्बुदाभम् ॥ १० ॥

आकाश में पताका की समान पूंछ को उठाये, वडी वडी डिगों से छलांगें मारते कुलाचों से मेघों को फाडते दौड़ते जंघाओं के परमवेग से समुद्र के जल को उछालते पीठ से वडे वडे राक्षसों को खैंचते सिन्दूर की समान रक्तवर्ण दिग्गजों के कटितटके चारों ओर अपने शरीर की कान्ति को फैलाकर सूर्ययुक्त मेघमण्डल की समान दृश्य करतेहुए हनुमान् जी चलनेलगे ॥ १० ॥

तत्रावसरे समुद्रादुत्थितो मैनाकः—

विश्रान्तस्तत्र हर्षात्सपदि जलधिना प्रेरितो रत्ननाभो
मैनाकः काञ्चनाङ्गस्तुहिनगिरिसुतः प्राह दूरागतस्त्वम् ।
हंहो दूराध्वखेदं जहि मम शिखरे प्राप्य तस्येति वाचं
स्पृष्ट्वांगुल्या तदग्रं भुजरयपवनापूरिताशं जगाम ॥ ११ ॥

उसी समय मैनाक समुद्र में से उठकर कहनेलगा कि हे पवनकुमार पक्ष काटनेवाले इन्द्र के भय से मैं यहां छुपाहुआ रहता हूं मेरी नाभी में अनेकों रत्न हैं मैं हिमालय का पुत्र सुवर्ण के शरीरवाला मैनाक, समुद्र की प्रेरणा से आप से प्रार्थना करता हूं कि तुम दूर से आये हो मेरे शिखर पर ठहरकर मार्ग के श्रम को दूर करो इस की यह वाणी सुन पवनकुमार ने उस के शिखर के अग्रभाग को चरण की अंगुलिसे छूदिया, और भुजाओं की वेग की पवन से दिशाओं को भरतेहुए आगे को चलदिया ॥ ११ ॥

वेलातटे शालतमालमालां विलोकमानः सहसाञ्जनेयः ।
उल्लोलयन्वालधिवल्लिमुच्चैः कल्लोलिनीवल्लभमुल्ललंघे ॥ १२ ॥

समुद्र के तट पर शाल और तमाल के वृक्षों की पंक्ति को देखतेहुए अंजनी-पुत्र हनुमान् जी पुच्छलता को ऊपर फहरातेहुए अनायास में ही नदीनाथ समुद्र के पार होगये ॥ १२ ॥

अथ दशरथसूनोराज्ञया वायुपुत्रो
रजनिचरपुरीमालोक्य भूत्वा द्विदंशः ।
अकलितपरिमाणो मात्रया सत्रपस्तां
क्षिपति जनकजाग्रे शिंशपाग्रावतीर्णः ॥ १३ ॥

इस के अनन्तर पवनकुमार ने दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा के अनु-सार राक्षसपुरी लङ्का को देखकर मच्छर की समान रूप धार गणना के अयोग्य शरीर के आकार से लज्जायुक्त अशोक के वृक्ष से उतर उस मुद्रिका को जानकी के आगे डालदिया ॥ १३ ॥

जानकीं नमस्कृत्य मारुतिः-
मातर्जानकि को भवानिह मृगः, केनात्र संप्रेषित-
स्त्वद्दौत्येन रघूत्तमेन किमिदं हस्तेऽस्ति तन्मुद्रिका ।
दत्ता तेन तवैव तां निजकरादालभ्य चालिंग्य च
प्रम्णाश्रूणि ससर्ज सम्यगुदभूद्गात्रेषु रोमोद्गमः ॥ १४ ॥

जानकी को प्रणाम करके पवनकुमार-

मातः जनकनन्दनी ! । जानकी-तू कौन है यहां ? । हनुमान्-वानर। जानकी-यहां किसने भेजा है ? । हनुमान्-तुम्हारा सन्देशालेकर रघुनाथ जी ने । जानकी-यह हाथ में क्या है ? । हनुमान्-उन की अंगूठी है और उन्होंने तुम्हारे ही लिये दी है, जानकी-उस अंगूठीको अपने हाथ से उठा और हृदय से लगाकर प्रेम के कारण आंसू गिरानेलगीं तथा उनके अंगो पर भलीप्रकार रोमांच हो आये ॥ १४ ॥

हनुमानविरलगलदश्रुपूर्णलोचनाभ्यां सौवर्णमंगुलीयकं मन्यमानां जानकीं संभावयामास। हे भामिनि-

सुवर्णस्य सुवर्णस्य सुवर्णस्य च मैथिलि।
प्रेषितं रामचन्द्रेण सुवर्णस्यांगुलीयकम् ॥ १५ ॥

हनुमान् निरन्तर गिरतेहुए आँसुओं से भरे नेत्रों करके सुवर्ण की अंगूठी को मान्य देनेवाली जानकी को आश्वासन देनेलगे कि हे भामिनि! सुन्दर रंगवाले सुन्दर रामनाम वर्णों से युक्त दशमासे सोने की यह अंगूठी हे माता जानकी! श्रीरामचन्द्र जी ने तुम्हारे लिये भेजी है ॥ १५ ॥

जानकी आशालेशमासाद्य क्षणमश्रूणि प्रमृज्य-
मुद्रिकाव्याजेन मारुतिं प्रति-

मुद्रे सन्ति सलक्ष्मणाः कुशलिनः श्रीरामपादाः सुखं
सन्ति स्वामिनि मा विधेहि विधुरं चेतोऽनया चिन्तया।
एनां व्याहर मैथिलाधिपसुते नामान्तरेणाधुना
रामस्त्वद्विरहेण कङ्कणपदं ह्यस्यै चिरं दत्तवान् ॥ १६ ॥

जानकी (कुछेक आशा पाकर और कुछ देरमें आंसुओं को पोंछकर अंगूठी के मिस से हनुमान् जीके प्रति-)

हे मुद्रिके! लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी के चरण प्रसन्न हैं?, यह सुन हनुमान् जी ने कहा कि हे भगवति तुम इस चिन्ता से अपने चित्त को दुःखित न करो, जनकराजकुमारी! इस मुद्रिका को अब तुम दूसरे नाम से पुकारो क्योंकि तुम्हारे विरह के कारण श्रीरामचन्द्र जी ने अब इसको चिरकाल के लिये कंकण का स्थान देदिया है ॥ १६ ॥

अत्रांगुलीयकमणौ प्रतिबिम्बमासी-
द्रामस्य सादरमतीव विलोकयन्ती।
मद्रूप एव किमभून्मम वीक्षयेति
मीमांसया जनकराजसुता मुमोह ॥ १७ ॥

इस अंगूठी के नगीने में बडे आदर के साथ श्रीरामचन्द्र जी के नाम के अक्षरों को देखतीहुई सीता उस में अपना ही प्रतिविम्ब देखनेलगी अथवा मणि में अपना प्रतिविम्ब देखकर भ्रम में पडगई कि इस में तो श्रीरामचन्द्र जी का चित्र था क्या प्राणनाथ मेरी चिन्ता से मेरा ही रूप होगये ऐसे विचार में जनककुमारी मूर्च्छित होगई ॥ १७ ॥

कथंचिच्चेतनां प्राप्य-

अये मरुत्तनय यद्यंगुलीयकमेव कंकणमभूत्स्वामिनो राम-
देवस्य तर्हि किमिव तनुतां गतः ?

(किसी प्रकार चेतना पाकर) अयि पवनकुमार ! यदि अँगूठी ही प्राणनाथ का कंकण होगई तो यह तो बताओ कि वह किस के समान दुर्बल होगये हैं ?

हनुमान्-

स्वभावादेव तन्वङ्गि त्वद्वियोगाद्विशेषतः ।
प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गतः ॥ १८ ॥

हनुमान्-हे दुर्वलाङ्गी! एक तो महाराज स्वभाव से ही दुर्बल थे, और तुम्हारे वियोग के कारण तो अब ऐसे विशेष दुर्वल होगये हैं कि-जैसे प्रतिपदा के दिन पढनेवाले विद्यार्थी की विद्या क्षीण होजाती है॥ १८ ॥

जानकी-

चन्द्रो यत्र दिनेशदीधितिसमः पद्मं फुलिंगोपमं
कर्पूरः कुलिशोपमः शशिकला शम्यासमा भासते ।
वायुर्वाडववह्निवन्मलयजो दावाग्निवत्सांप्रतं
संदेशं नय रामसंनिधिमितो यात्रां द्रुतं कारय ॥ १९ ॥

जानकी-जहां चन्द्रमा सूर्य की किरणों की समान, कमल अग्नि के कणों की समान, कपूर वज्र की समान, चन्द्रमा की कला विजली की समान, वायु वडवानल की समान, और चन्दन अग्नि की समान प्रतीत होता है इस कारण हे पवनकुमार! इस संदेश को लेकर तुम शीघ्र ही यहाँ से श्रीरामचन्द्र जी के समीप चलेजाओ और उनको लिवाकर लाओ ॥ १९ ॥

हनुमान्–

किं दूरमिन्दुमुखि रामशिलीमुखानां
किं दुर्गमर्गलभिदां हरियूथपानाम् ।
दैवं प्रसन्नमिव देवि तवाद्य सत्यं
रक्षांसि कानि कुपितस्य सलक्ष्मणस्य ॥ २० ॥

हनुमान्–हे चन्द्रवदनि ! श्रीरामचन्द्र जी के बाणों को क्या दूर है परकोटों को तोडनेवाले वानरों को क्या दुर्गम है हे देवि ! मुझे तो दैव प्रसन्नसा प्रतीत होता है यदि लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्र जी को क्रोध आगया तो मैं इस समय तुम से सत्य कहता हूं कि–यह राक्षस विचारे हैं ही क्या ॥ २० ॥

अत्रान्तरे जानकीं सप्रपञ्चं पृच्छन्हनुमान्–मातः कुत्रास्ते राजवाटिका ?

इसी वार्त्तालाप के बीच में जानकी से बातों ही बातों में हनुमान् जी ने पूछा कि हे माता ! राजा रावण की बगीची कहाँ है ॥

दर्शयति जानकी–

रे पुत्र पश्चिमदिग्भागेनास्यास्ति वाटिका। हनूमान् उद्यल्लांगूलप्रचण्डरूपेण प्रचलितः–

इत्युक्त्वा रजनीचरस्य हनुमानुद्भिद्य लीलावनं
वीरं तत्सुतमक्षमात्तपरिघाघातैर्जघानागतम् ।
तत्कोपारुणलोचनेन्द्रजयिना प्राङ् निष्कलत्वाद्धृतं
ब्रह्मास्त्रेण विगर्हितेन विधिना बद्धो विदग्धः कपिः ॥२१॥

(जानकी दिखाती हैं) रे पुत्र ! इस बगीची के पश्चिम भाग में वह बगीची है, हनुमान्–(पूंछ को उठाये प्रचण्डरूप से चलदिये) सीता जी के इसप्रकार कहने पर हनुमान् जी ने रावण के लीलावन को उजाडकर और उस रावण के पुत्र अक्षकुमार के युद्ध करने को आने पर किसी से छीनेहुए मुद्गर से उस को यम-

पुर पहुंचादिया, तदनन्तर हनुमान् जीके ऊपर क्रोध के कारण लाल लाल नेत्र वाले मेघनाद के पहिले निष्फल होने के कारण निंदा कियेहुए, ब्रह्मा जी के अस्त्र से हनुमान् जी बँधगये ॥ २१ ॥

रावणः तमालोक्य—

रे रे वानर को भवानहमरे त्वत्सूनुहन्ताहवे
दूतोऽहं खरखण्डनस्य जगतां कोदण्डदीक्षागुरोः ।
मद्दोर्दण्डकठोरताडनविधौ को वा त्रिकूटाचलः
को मेरुः क्व च रावणस्य गणना कोटिस्तु कीटायते ॥ २२ ॥

रावण—(हनुमान् जी को देखकर) रे रे वानर तू कौन है ? । हनुमान् अरे मैं संग्राम में तेरे पुत्र अक्ष को मारनेवाला खरदूषणादि के हन्ता जगत्में धनुर्विद्याके गुरु श्रीरामचन्द्र जी का दूत हूं, मेरे कठोर भुजदण्डों की कठोर झपेट में त्रिकूटाचल सुमेरु पर्वत क्या हैं और रावण की तो गिनतीही क्या, ऐसे ऐसे करोडों कीड़े कुचल जाते हैं ॥ २२ ॥

ईषत्सज्जनमैत्रीव नाभिद्यत कपेस्तनुः ।
निहता चन्द्रहासेन रावणेनातिरंहसा ॥ २३ ॥

रावण ने वडे वेग के साथ हनुमान् जी के ऊपर चन्द्रहास नामक तलवार का प्रहार किया, परन्तु सज्जन की मित्रता के समान हनुमान् जी के शरीर में उस से कुछभी चोट न लगी ॥ २३ ॥

लांगूले चैलतैलप्लुतवहलशणैर्वेष्टिते दीप्यमानो
रक्षोभिर्वीक्षितोऽग्निर्द्विजपरुषगिरा राघवो यद्यतुष्टः ।
तुष्टो यद्याज्यहोमैस्त्वमपि रघुपतेर्यद्यहं भक्तियुक्ता
संततः प्रार्थितो मा तदिह हनुमतः सीतया शीतलोऽभूत् २४

(तलवार के निष्फल होने पर अपनी पूर्वोक्त चतुराई को प्रकट करने के लिये हनुमान् जी ने कहा तू मुझ को भस्म करवा दे, तब रावण ने उन की पूंछ में अग्नि लगवादी, उस समय सीता जी कहती हैं कि) हे अग्निदेव ! यदि श्रीरामचन्द्र

जी ब्राह्मणों को किसी के दुर्वचन कहने पर असंतुष्ट होते हैं, तुम व्रत के होमों
संतुष्ट हो, और रामचन्द्र जी में मेरी भक्ति है. तो राक्षसों के कुतूहल देखते में
तेल से भीगे पुराने वस्त्र और बहुतसे सन से लिपटी और जलतीहुई पूंछ से
हनुमान को कष्ट न दो, इसप्रकार सीता जी के प्रार्थना करने पर अग्नि शीतल
होगया ॥ २४ ॥

वह्निर्बभौ वानरपुच्छजन्मा स दाह्य लङ्कां खमिवोत्पतिष्णुः ।
रामाद्भयं प्राप्य किल प्रतापः पलायमानो दशकंधरस्य ॥२५॥

यह हनुमान् जी की पूंछ से उत्पन्न हुआ अग्नि लंका को भस्म करके आकाश
में उड़ता हुआ ऐसा प्रतीत हुआ कि—मानो रावण का प्रताप निःसंदेह रामचंद्र—
जी के भय से भागा जारहा हो ॥ २५ ॥

पलानि भुक्त्वा चपलः पलाशिनां हुताशनस्तृप्तिमुपागतः पराम् ।
विराजते स्म प्रतियातनाछलाज्जलानि चाब्धौ तृषितः पिबन्निव २६

लपटें लेताहुआ अग्नि मांसभक्षी राक्षसों का मांस भक्षण करके परम तृप्ति को
प्राप्त हुआ, और ऐसी शोभा को प्राप्त हुआ कि मानो समुद्र के जल में प्रतिबिम्बित
हुई लपटों के बहाने से प्यासा हुआ समुद्र में जल पीरहा है ॥ २६ ॥

रावणः स्वगतम्—

यद्ययं रुद्रो मारुतिस्तर्हि किमिति रुद्रभक्तस्य मे नगरीं दहति
अहह ज्ञातम् ।
तुष्टः पिनाकी दशभिः शिरोभिस्तुष्टो न चैकादशको हि रुद्रः ।
अतो हनूमान्दहतीति कोपात्पंक्तेर्हि भेदो न पुनः शिवाय ॥२७॥

(रावण अपने मन ही मन में) यदि यह पवनकुमार रुद्रावतार हैं तो मुझ रुद्र-
भक्त की नगरी को क्यों भस्म करे डालते हैं ? ओहो समझगया—
पिनाकधारी शिव जी दश मस्तकों से प्रसन्न होगये, परन्तु ग्यारहवें रुद्र प्रसन्न
न हुए इसीकारण हनुमान् कोप कर लंका को भस्म कररहे हैं, सो ठीक ही है
क्योंकि पंक्ति का भेद कभी मंगलदायक नहीं होता ॥ २७ ॥

अपि च–

अब्धिः किं वड़वानलेन तरणेर्बिम्बेन किं चाम्बरं
मेघः किं चपलाचयेन शशिभृत्किंभालनेत्रेण वा ।
कालः किं क्षयवह्निनेन्द्रधनुषा धाराधरः किं महा-
न्मेरुः किं ध्रुवमण्डलेन स कपिः पुच्छेन खे राजते॥२८॥

और भी–क्या वडवानल से समुद्र शोभित होरहा है ? क्या सूर्य के बिम्ब से आकाश शोभित होरहा है ? क्या बिजलियों के समूहों से मेघमण्डल शोभित होरहा है ? क्या धधकती हुई अग्निवाले तीसरे नेत्र से युक्त चन्द्रशेखर शिव हैं ? क्या क्षयकारक अग्निवाला महाकाल है ? क्या इन्द्रधनुषधारी मेघ है ? क्या ध्रुवमण्डल-युक्त सुमेरु पर्वत है ? अथवा यह दहकतीहुई पूंछवाले वह पवनकुमार हनुमान् जी ही आकाशमें विराजरहे हैं ॥ २८ ॥

अथ राक्षसाः–

मरुत्पुत्रस्त्वेकः कपिकटकरक्षामणिरसौ
समुद्यल्लांगूलो ध्वज इव समाश्लिष्टगगनः ।
पुनः प्रत्यायास्यत्यहह कपिसैन्ये प्रचलिते
पदं प्रोचुर्नीचैर्भयचकितलङ्कापुरजनाः ॥ २९ ॥

(लंकानिवासी राक्षसगण) वानरोंकी फौजकी रक्षाका सरदार ऊँची पूंछवाला पताका (झंडी) की समान आकाशको उडनेवाला यह अकेला पवनपुत्र ही जिस समय वानरों की सेना चलकर आवैगी उस समय फिर भी इस लंकामें आवैगा इस प्रकार भयसे चकित हो लंकाके रहनेवाले धीरे २ आपसमें कहनेलगे ॥ २९ ॥

अथाह गगनमण्डलस्थो मारुतिः–

एकोऽहं पवनात्मजो दशमुख त्वं चापि कोटीश्वर-
स्त्वां जित्वा समरे प्रभोः प्रणयिनीं सीतां च नेतुं क्षमः ।

किं तूत्थाप्य भुजं पुरा भगवता रामेण सुग्रीवतो
हत्वा दक्षिणपाणिना वसुमतीं त्वां हन्तुमुक्तं वचः ॥ ३० ॥

इसके उपरान्त आकाशमें स्थित हुए हनुमान्‌जी बोले हे दशानन ! मैं तो पवनका पुत्र अकेला ही हूँ और तू करोड़ोंका अधिपति है, मैं रणमें तुझसे विजय प्राप्त कर स्वामीकी पतिव्रता जानकीको लेजा सकता हूँ परन्तु पहिले भगवान् रामचन्द्रजीने अपनी भुजाको उठाकर दाहिने हाथसे पृथ्वीको ताडित कर स्वयं तेरा वध करनेकी सुग्रीवसे प्रतिज्ञा की है ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा दशग्रीवनगरीं भस्मसात्कृत्वा रक्षितामशोकवनिकामागम्य जानकीं प्रणम्य रामाभिज्ञानं याचते स्म हनूमान् ॥

ऐसा कहकर हनुमान्‌जी रावणकी पुरी (लंका) को जलाकर अग्निसे न जली अशोक वाटिकामें आ जानकीजिको प्रणाम करके श्रीरामजीके जतानेके लिये निशानी माँगनेलगे ।

मैथिली–

शिखां धूमशिखां शत्रोः कालव्यालवधूमिव ।
उद्यम्यास्य शिरोरत्नं संज्ञानं स्वामिने ददौ ॥ ३१ ॥

इति प्रथममभिज्ञानम् ॥

जानकीने कहा—शत्रुके कालरूप सर्पकी स्त्रीकी सदृश धूमशिखा (...तुकी पूँछ) की समान अपनी चोटीको खोल उसमेंकी अपनी चूडामणी ...ी रामचन्द्रके निमित्त निशानी दी ॥ ३१ ॥

यह पहिली निशानी हुई ॥

तथा च चित्रकूटपर्वते–

वक्षोभिचारि चरुभाण्डमिव स्तनं यो
देव्या विदेहदुहितुर्विददार काकः ।
ऐषीकमस्त्रमधिकृत्य तदा ततोऽक्ष्णा
काणीचकार करुणो रघुराजपुत्रः ॥ ३२ ॥

इति द्वितीयमभिज्ञानम् ॥

(चित्रकूट पर्वतमें) जिस काकरूपी जयन्तने छातीमें रहनेवाले चरुके पात्रकी समान देवी जानकीके कुचोंको विदीर्ण किया था तब तृण (तुनके) के बनायेहुए बाणको चढ़ाकर करुणाकर रामचन्द्रजीने उस काकको एक नेत्रसे काना करदिया था ॥ ३२ ॥

यह दूसरी निशानी हुई ॥

मनःशिलायास्तिलकं तथा मे गण्डस्थले पाणितलेन मृष्टम् ।
स्मरेति संज्ञानमपि प्रयच्छ जीवाम्यतो राघव मासमात्रम् ३३
इति तृतीयमभिज्ञानम् ।

जिस समय कि मैनशिलका तिलक मेरे कपोलस्थलमें हाथके रखनेसे विसनगया था उस समयकी पहिचानको याद करो, हे वायुपुत्र ! एक यह भी मेरी निशानी लेकर तुम जाओ, कहदेना कि हे रामचन्द्रजी आजसे लेकर एक महीने तक आनेकी बाट देखतीहुई मैं और जीवित हूँ ॥ ३३ ॥

यह तीसरी पहिचान है ॥

हनूमान्–

रत्नं यत्नाद्गृहीत्वा तदनु कपिभटश्चित्रकूटस्य संज्ञां
नत्वा पादारविन्दद्वयमपि जनकस्यात्मजाया हनूमान् ।
पाणिभ्यामंघ्रियुग्मं पुनरुदधितटे मन्त्रयित्वाभ्रगर्भे-
णोर्व्यामुत्पत्य मग्नं तदुरुभुजबलाडम्बरेणाजगाम ॥३४॥

(हनुमान्) इसके अनन्तर वानरोंमे श्रेष्ठ हनुमान्जी बडे यत्नसे चूडामणिको लेकर चित्रकूटकी पहिचानको स्मरण करके और महारागी जनकतनयाके दोनों चरणकमलोंको प्रमाण करके दोनों हाथोंसे सीताके चरणोंको छूकर फिर समुद्रके तटपर आ विचार करके पृथ्वीसे ऊर्मिमाली समुद्रका उल्लंघन कर लम्बी चौडी भुजाओंके बलसे आकाशमार्गमें होकर आगये ॥ ३४ ॥

ततो मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः ।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितः समागतः श्रीहनुमान्वसन्तवत् ॥३५॥

तत्पश्चात् वायुसे चूमेहुए शुद्ध केसरवाले निर्मल चन्द्रमण्डलके आगे चलने वाले वियोगी रामचन्द्रकी कातर दृष्टिसे देखेहुए श्रीहनुमान्जी वसन्त ऋतुकी समान आपहुँचे ॥ ३५ ॥

सीतापतिं ससंभ्रममालिङ्गितुमुद्यतं दृष्ट्वा—

अचंभेके साथ आलिंगन करनेको उद्यत सीतापति रामचन्द्रको देखकर ।

देव—

पीतो नाम्बुनिधिर्न कोणपपुरी निष्पिष्य चूर्णीकृता
नानीतानि शिरांसि राक्षसपतेर्नानायि सीता मया ।
आश्लेषार्पणपारितोषिकमहं नार्हामि वार्ताहरो
जल्पन्नित्यनिलात्मजः स जयति व्रीडाजडो राघवे ॥ ३६ ॥

हे देव ! न मैंने समुद्रका पान किया, न मैंने राक्षसकी लंकापुरीको पीसकर चूर्ण २ किया, राक्षसराज रावणके शिर भी नहीं लाया हूँ और न सीता माताको लाया हूँ इस कारणसे एक संदेशामात्र लानेवाला मैं आलिंगनरूप ईनामके योग्य नहीं होसकता इस प्रकार कहतेहुए और रामचन्द्रजी के सन्मुख लज्जासे नम्र हुए हनुमान्जी जयको प्राप्त होरहे हैं ॥ ३६ ॥

रामः (सविकल्पं विधातारमुपलम्भते) क्रूरकर्मा विधाता किं विधास्यतीति ॥

रामचन्द्र द्विविधाके साथ प्रारब्धको उलाहना देते हैं । नहीं मालूम यह क्रूर विधाता क्या करैगा ॥

हनूमान् देव—

कुत्रायोध्या क्व रामो दशरथवचनाद्दण्डकारण्यमागा
त्कोऽसौ मारीचनामा कनकमयमृगः कुत्र सीतापहारः ।
सुग्रीवे राममैत्री क्व जनकतनयान्वेषणे प्रेषितोऽहं
योऽर्थोऽसंभावनीयस्तमपि घटयति क्रूरकर्मा विधाता ॥ ३७ ॥

हनुमान्-स्वामिन्! कहाँ अयोध्या पुरी? और कहाँ आप? कहाँ राजा दशरथके वाक्योंसे आपका दण्डक वनमें आना? और कहाँ इस मारीचनाम राक्षसका सोनेका मृग बनना? कहाँ जानकीका हराजाना ? और कहाँ सुग्रीवकी आपके साथ मित्रता ? कहाँ जानकीकी खोजमें मुझको भेजना ? जो काम होना असम्भवसा था क्रूरकर्मा ब्रह्मा उसको भी कररहा है, अर्थात् जिस ब्रह्माने यह सब कार्य किये हैं वही अब जानकीजीको भी मिलादेगा ॥ ३७ ॥

रामः-

हे वीर! विदीर्यमाणहृदयद्वारेण प्राणा लोकान्तरं गन्तुमिच्छन्ति किमिति तूर्णं चन्द्रवदनां नावेदयसि ।

रामचन्द्रजी-हे वीर ! विदीर्ण हुए हृदयरूपी द्वारसे यह प्राण परलोकको जाना चाहते हैं सो क्यों नहीं शीघ्र चन्द्रवदनी सीताकी कुशल सुनाते हो ? ॥

हनूमान् सत्वरम्-

हा राम जगदानन्द किमिदं शिवमस्तु ते ।
तव प्राणगतिद्वारस्यार्गलेयं करे मम ॥ ३८ ॥

(हनुमान्-जल्दीसे) हे जगत्के आनन्द देनेवाले राम ! आपका कल्याण हो ! आप ऐसा क्या कहरहे हैं आपके प्राणोंके जानेके द्वारको बन्द करनेको डँडेला यह (चूडामणि) मेरे हाथमें है ॥ ३८ ॥

इति जानकीशिरोरत्नं रामाय प्रयच्छति ।

तथा च-

मनःशिलायास्तिलकं स्मर गण्डस्थले त्वया ।
संमृष्टं जानकीवक्षःस्पर्शात्काणीकृतं खगम् ॥ ३९ ॥

ऐसा कह जानकीकी चूडामणि रामचन्द्रजीको देते हैं (और भी) स्मरण करिये कि जानकीजीके गण्डस्थलमें लगाहुआ मैनसिलका तिलक आपसे बिगडगया था "और यह भी याद करिये कि" श्रीजानकीजीके वक्षःस्थलको स्पर्श करनेके अपराधमें आपने कौवेको काना किया था ॥ ३९ ॥

(रामोऽभिज्ञानत्रयमासाद्य) साधु मारुते साधु ।
अये प्रियायाः कुशलमस्ति ।

आञ्जनेयः—

कार्श्यं चेत्प्रतिपत्कला हिमनिधेः स्थूलाथ चेत्पाण्डिमा
नीला एव मृणालिका यदि घना बाष्पाः कियान्वारिधिः ।
संतापो यदि शीतलो हुतवहस्तस्याः कियद्वर्ण्यते
राम त्वत्स्मृतिमात्रमेव हृदये लावण्यशेषं वपुः ॥ ४० ॥

(रामचन्द्रजी तीन चिह्नोंको लेकर) धन्य हो ! पवनतनय ! धन्य हो ! कहो प्यारी जनकदुलारी आनन्दसे तो है ॥ (हनूमान्) हे भगवन् ! श्रीजानकीजीकी दुर्बलताको बूझते हैं तो इतनी दुबली होगई हैं कि प्रतिपद (पडवा) का चन्द्रमा भी उनसे बडा मालूम होताहै, यदि उन के बडेभारी अश्रुप्रवाह की ओर दृष्टि कीजाय तो उसके सामने समुद्र भी कोई वस्तु नहीं । और संतापाग्निको देखनेसे तो अग्नि भी ठंडी प्रतीत होती है । हे नाथ ! मैं जानकीकी किस किस दशाका वर्णन करूँ ? हे भगवन् ! हरघड़ी आपका स्मरण करनेसे केवल उनके एक हृदयमें ही लावण्यता (खूबसूरती) है ॥ ४० ॥

रामः—मारुते का कथा ।

रामचन्द्रजी—हनुमान् ! लंका की बात तो कहो ? ॥

हनूमान् भोः प्रभो—

का शृङ्गारकथा कुतूहलकथा गीतादिविद्याकथा
माद्यत्कुम्भिकथा तुरङ्गमकथा कोदण्डदीक्षाकथा ।
एकैवास्ति मिथः पलायनकथा त्वद्भीतरक्षःपते-
र्देव श्रीरघुनाथ तस्य नगरे स्वप्नेऽपि नान्या कथा ॥ ४१ ॥

हनूमान्जी—हे भगवन् ! न वहां शृंगारकी बातें हैं, न खेलकी बातें हैं, न गाने बजानेकी विद्याकी बातें हैं, न मतवाले हाथियोंकी चर्चा है और न घोडे और

धनुष विद्या के सिखानेकी कथा है । हे भगवन् ! राक्षसराज रावणकी पुरीमें आज-कल लोग आपसमें केवल एक आपके भयसे भागनेकी चर्चा कररहे हैं । वहाँ तो स्वप्नमें भी कोई दूसरी बात नहीं है ॥ ४१ ॥

रामः—

त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंका नाम महापुरी ।
कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने ॥४२॥

रामचन्द्र—हे वीर ! देवताओंसे भी अजेय लंकापुरी को दशानन रावणके रहते-हुए भी तुमने कैसे जलादिया ? ॥ ४२ ॥

हनुमान्—

निःश्वासेनैव सीताया राजन्कोपानलेन ते ।
दग्धपूर्वा तु सा लंका निमित्तमभवत्कपिः ॥ ४३ ॥

हनूमान्—हे भगवन् ! श्रीजानकीजीके श्वासोंसे और आपके क्रोधरूपी अग्निसे वह लंका पहिले ही भस्म होचुकी थी, मैं तो उसमें निमित्तमात्र ही होगया हूँ ४३॥

शाखामृगस्य शाखायाः शाखां गन्तुं पराक्रमः ।
यत्पुनर्लंघितोम्भोधिः प्रभावोऽयं प्रभो तव ॥ ४४ ॥

एक डालीसे कूदकर दूसरी डालीपर जा बैठना इतना ही वानरका पराक्रम है और यह जो मैंने समुद्रको लाँघा, हे प्रभो ! यह तो आपकी ही प्रभुता थी ॥४४॥

अन्तराले लंकायां सरमा नाम राक्षसी धर्मिणी जानकीं वाचमूचे—

इसी बीचमें लंकामें धर्मव्रतको धारण करनेवाली सरमा नाम राक्षसी सीताजीसे बोली ॥

बिभेमि सखि संवीक्ष्य भ्रमरीभूतकीटकम् ।
तद्ध्यानादागते पुंस्त्वे तेन सार्धं कुतो रतिः ॥४५॥

हे सखि ! भ्रमरके ध्यानमात्रसे भ्रमर बनेहुए कीटको देखकर मुझे डर लगता है, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीके ध्यानसे तुममें भी पुरुषपना आजानेसे उनके साथ फिर तुम्हारा प्रेम कैसे होगा ॥ ४५ ॥

मा कुरुष्वात्र संदेहं रामे दशरथात्मजे ।
त्वद्ध्यानादागते स्त्रीत्वे विपरीतास्तु ते रतिः ॥ ४६ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके हनुमद्विजयो नाम षष्ठोऽङ्कः ॥

फिर कहनेलगी इसमें कुछ सन्देह नहीं कि दशरथतनय रामचन्द्रजीमें तुम्हारा ध्यान करनेके कारण स्त्रीपना आजाने पर तुम्हारी प्रीति उलटी होजायगी अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीमें स्त्रीपना और तुममें पुरुषपना आजानेपर भी प्रीति होना सम्भव है ॥ ४६ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके हनुमद्विजयो नाम षष्ठोऽङ्कः समाप्तः ॥

सप्तमोऽङ्कः ।

रामदूतेनोक्तः सुग्रीवः—

कपिनृपतिरपास्य प्रेयसीं प्रेमभिन्नः
किमिति जनकपुत्रीरामयोः कार्यमुच्चैः ।
गतिरपि हरिसूनोर्विस्मृता राज्यगर्वा-
दिति रघुजनवाक्यादागतः सैन्ययुक्तः ॥ १ ॥

हनुमान्‌जी सुग्रीवसे कहते हैं—

राम और जानकीका यह कार्य हैही कितनासा ? ऐसा विचार कर स्त्रीके प्रेममें समय वितानेवाले वानरराज सुग्रीवसे जब रघुनाथके दूत हनूमान्‌जीने कहा कि राज मिलनेके घमण्डमें तुम वालीकी गतिको भूलगये कि घमण्डके कारण उसकी क्या गति हुई ? और वह दिन भूलगये कि स्त्री भी छिनगई थी और दुबके २ रहते थे तब कामाभिलाषाके पूर्ण हुए विना ही अपनी प्रिया रुमाको त्यागकर सेनासहित सुग्रीव रामचन्द्रके पास आये ॥ १ ॥

अथ विजयदशम्यामाश्विने शुक्लपक्षे
दशमुखनिधनाय प्रस्थितो रामचन्द्रः ।
द्विरदविधुमहाब्जैर्यूथनाथैस्तथान्यैः
कपिभिरपरिमाणैर्व्याप्तभूदिक्खचक्रः ॥ २ ॥

इसके उपरान्त आश्विन शुक्लपक्षमें विजय मुहूर्त्तसे युक्त विजया दशमीको रामचन्द्रजीने रावणके वध करनेके लिये यात्रा की । उस समय १८ महापद्म सेनापति तथा और असंख्य वानरोंसे दिशा और आकशमण्डल भरगया था ॥ २ ॥

हनूमान् रामं प्रति–

नृपतिमुकुटरत्न त्वत्प्रयाणप्रशस्तिं
प्लवगबलनिमज्जद्भूभराक्रान्तदेहः ।
लिखति दशनटंकैरुत्पतद्भिः पतद्भि-
र्जरठकमठभर्तुः खर्परे सर्पराजः ॥ ३ ॥

हनूमान्–(रामचन्द्रजीसे) हे राजाओंके शिरमौर ! वानरोंके बलसे नीचेको वसतीहुई पृथ्वीके बोझसे आक्रान्त देहवाले शेषजी बूढ़े कच्छपराजकी पीठपर वानरोंके उछलने पर ऊपरको उठतेहुए और वानरोंके पडने पर नीचेको बैठतेहुए दाँतोंरूपी कीलोंसे मानो आपकी चढ़ाईकी प्रशंसाको लिखते हैं ॥ ३ ॥

श्वासोर्मिप्रतिसन्धिरुन्धितगलप्रच्छिन्नहारावली
रत्नैरप्यदयालुभिः कृतफणाप्राग्भारभङ्गक्रमः ।
श्रोत्राकाशनिरन्तरालमिलितस्तब्धैः शिरोभिर्भुवं
धत्ते वानरवीरविक्रमभराभुग्नो भुजङ्गाधिपः ॥ ४ ॥

सेनाके बोझसे पुनः पुनः श्वास लेनेके कारण रुके हुए कण्ठमेंसे जिनके हारोंकी लड़ियोंके रत्न टूटगये हैं ऐसे आपसकी रगडके दुःखको न जाननेवाले, वानरोंके बलके भारसे टेढ़ेहुए, और फणोंके व्यग्र होनेसे मुडतेहुए तथा कानोंके छेद न होनेसे परस्पर सटेहुए सकल शिरोंके द्वारा शेषजीने कठिनतासे पृथ्वीको धारण कियाहै ॥ ४ ॥

रामः अये मरुत्तनय—

कूर्मं क्लेशयितुं दिशः स्थगयितुं भेत्तुं धरित्रीधरा-
न्सिन्धुं धूलिभरेण कर्दमयितुं तेनैव रोद्धुं नभः ।
नासीरेषु पुरःपुरश्चलबलालापस्य कोलाहला-
त्कर्तुं वीरवरूथिनी मम परं जैत्रं पुनस्त्वद्भुजैः ॥ ५ ॥

रामचन्द्र—हे पवनकुमार ! अग्रगन्ताओंसे भी आगे चलनेवाली यह मेरी वीर वानरोंकी सेना बातचीतके कोलाहलसे ही कच्छपराजको क्लेश देनेको, दिशाओंको व्याप्त करनेको, पहाडोंको तोडनेको, धूलिके समूहसे समुद्रको किचौंधा करदेनेको और उसी धूलिसे आकाशके रोकने और जय पानेको समर्थ है, फिर तुम्हारे भुज-बलका तो कहना ही क्या ? ॥ ५ ॥

भिल्लीभिः सहासम्—

नो शस्त्रं नापि शास्त्रं न हि च रथकथा नापि दन्ती न वाजी
नोक्षाणो नापि चोष्ट्रा बत न च शिबिरो नापि राजा जटावान् ।
नो वित्तं नापि वस्त्रं न च नृपरचना काचिदत्रास्ति मातः
प्रातर्द्रष्टुं स्थिताभिर्गिरिवरकुहरेऽभाषि भिल्लीभिरेवम् ॥ ६ ॥

भीलनियोंने हँसकर कहा—

हे मातः ! इनके पास न कोई शस्त्र हैं, न शास्त्र ही है, और न कुछ रथकी ही बात है, और न हाथी है, न घोडा है, न बैल है, और न कोई ऊँट ही है । दुःख है कि इनके पास तम्बू भी नहीं है, और न यह राजा ही है, न धन है, और वस्त्र भी कुछ नहीं हैं, और न कुछ राजाओंकीसी रचना ही है, ऐसे प्रातःकालके समय पहाड़ोंकी गुफाओंमें देखनेको बैठीहुई भीलनियोंने अपनी माताओंसे कहा ॥ ६ ॥

भिल्लीमातरः—

विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-
र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।

तथाप्येको रामः सकलमपि हन्ति प्रतिबलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥७॥

भीलिनिकी माताओंने कहा--

यह अवश्य लंका जीतेंगे समुद्रको पैरोंसे ही तर जायँगे यद्यपि इनका विपक्षी रावणसा बली है, और इनकी सहायता करनेवाले बन्दर हैं, तब भी यह रामचन्द्रजी अकेले ही शत्रुपक्षके समस्त बलका नाश करदेंगे क्योंकि बडे मनुष्योंकी क्रियाकी सिद्धि धैर्य वा बलसे होती है, कुछ हाथी घोडे आदि सामानसे नहीं होती ॥ ७ ॥

अत्रान्तरे तत्र लङ्कायां मन्त्रणायोपविष्टो मन्त्रिभिः प्रोत्साहितो लंकाभटानुत्कण्ठं बभाषे बिभीषणः--

सुवर्णपुंखाः सुभटाः सुतीक्ष्णा वज्रोपमा वायुमतः प्रवेगाः ।
यावन्न गृणन्ति शिरांसि बाणाः प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥८

इसी बीचमें सम्मति करनेको बैठेहुए मंत्रियों करके उत्साहित कियेहुए विभीषण लंकाके योधाओंसे उत्कण्ठाके साथ बोले--

सोनेके पुंखोंवाले परम बली, बडे तीखे, वज्रकी समान दृढ़ पवन और मनकी सदृश परम वेगवाले बाण जबतक शिरोंको अपने वशमें नहीं करते हैं तबतक आप दशरथके पुत्र श्रीरामचन्द्रजीको जानकी देदीजिये ॥ ८ ॥

बिभीषणो रावणं प्रत्याह--

जातिं मानय मानुषीमभिमुखो दृष्टस्त्वया हैहयः
स्मृत्वा वालिभुजौ च सांप्रतमवज्ञातुं न ते वानराः ।
तत्पौलस्त्यमहाग्निहोत्रिणमहं त्वामेवमभ्यर्थये
सीतामर्पय मुञ्च च क्रतुभुजः काराकुटुम्बीकृतान् ॥९॥

विभीषणने रावणसे कहा--

हे भाई! मनुष्य जातिका आदर करो, तुमने अपना सामने करनेवाले सहस्रार्जुनको देखा ही था, और वालीकी भुजाओंके बलको स्मरण करके इस समय वानरोंका अपमान नहीं करना चाहिये, इसकारण हे पुलस्त्यके कुलदीपक! रामकी

क्रोधसे प्रज्वलित अग्निमें हविके समान सम्पूर्ण राक्षसोंको हवन करतेहुए आपसे मैं. प्रार्थना करता हूँ कि सीता श्रीरामजीको समर्पण करो, और जिनको कारागार का कुटुम्बी बनारक्खा है, उन यज्ञभोक्ता देवताओंको छोड़दो ॥ ९ ॥

त्यजस्व कोपं कुलकीर्तिनाशनं भजस्व धर्मं कुलकीर्तिवर्धनम् । प्रसीद जीवेम सबान्धवा वयं प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥ १० ॥

हे भ्रातः कुल और कीर्तिका नाश करनेवाले इस क्रोधको त्यागदो तथा कुल और कीर्तिको बढ़ानेवाले अपने धर्मको धारण करो ऐसा करके हमारे ऊपर अनुग्रह करो, जिससे कि हम कुटुम्बियोंके साथ जीते रहैं श्रीरामचन्द्रजीको जानकी देदो ॥ १० ॥

रावणः सक्रोधम्—

जानामि सीतां जनकप्रसूतां जानामि रामं मधुसूदनं च । वधं च जानामि निजं दशास्यस्तथापि सीतां न समर्पयामि ११

इति वामचरणेन विभीषणं ताडयामास—

जनकके कुलमें उत्पन्न हुई जानकीको भी मैं जानता हूँ और मधु दैत्यके नाशक विष्णुके अवतार रामको भी जानता हूँ, तथा अपनी मौतको भी जानता हूँ, परन्तु एक मुखवाले को भी अपनी बातकी हठ होती है मैं तो दश मुखवाला हूँ इस कारण सीता नहीं दूंगा ॥ ११ ॥ ऐसा कहकर बाँये पैरसे विभीषणको एक लात लगाई ॥

विभीषणः—

ततश्चतुर्भिः सह मन्त्रिपुत्रैरुत्सृज्य रक्षःकुलधूमकेतुम् । लङ्कामहातंक इवाम्बरेण विभीषणो राघवमाजगाम ॥ १२ ॥

विभीषण—

इसके अनन्तर चार मंत्रिकुमारोंके साथ राक्षसकुलके धूमकेतुकी समान रावण को त्याग लंकाके परम भयकी तुल्य विभीषण आकाशमार्गसे श्रीरामचन्द्रजीके समीप आया ॥ १२ ॥

आगते विभीषणे परस्परं वानराः–

अद्यैवास्य विभीषणस्य शरणापन्नस्य मूर्ध्ना नते-
रानृण्याय ददात्ययं रघुपतिर्लंकाधिपत्यश्रियम् ।
एतस्यैव भुजाविह प्रतिभुवौ सुग्रीवराज्यार्पणे
त्रैलोक्यप्रथिमानसत्यचरिताः सर्वे वयं साक्षिणः ॥१३॥

विभीषणके आने पर वानर आपसमें कहनेलगे कि–

शरणमें प्राप्तहुए इस विभीषणके माथा नमाकर प्रणाम करने पर यह श्रीरामजी इस विभीषणको प्रणामके बदलेमें लंकाके प्रभुत्वकी लक्ष्मी देते हैं इन्हीं रामचन्द्रकी भुजाएं सुग्रीवको राज्य देनेमें उदारता दिखाचुकी हैं त्रिलोकीके सुन्दर चरित्रोंमें चित्त देनेवाले हम सब वानर इसके साक्षी हैं अर्थात् जैसे वालीको मार सुग्रीवको राज्य दिया ऐसे ही रावणको मारकर विभीषणको राज्य देंगे ॥ १३ ॥

या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेपि शंकरात् ।
दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥ १४ ॥

जो विभूति (ऐश्वर्य) रावणको अपने शिर काटने पर शिवजीसे मिली थी वही विभूति श्रीरामचन्द्रजीका दर्शनमात्र करनेसे विभीषणको मिलगई ॥ १४ ॥

ततो रामेण–

अथ दशरथपुत्रे तत्र सौमित्रिमित्रेऽ-
प्युदगुदधितटान्ते गर्भदर्भावकीर्णे ।
अहमिहह निविष्टे नावतोऽग्रेतिरोषा-
द्यदि जलधिरनेनाप्यात्तमाग्नेयमस्त्रम् ॥ १५ ॥

फिर रामचन्द्रजीने–

इसके उपरान्त अपने भ्राता लक्ष्मणके साथ मुझ रामके यहाँ उत्तर तट पर विछेहुए कुशके आसन पर बैठने पर भी ओः मेरे सामने समुद्र नहीं, आया ! ऐसा विचार कर रामजीने वडे क्रोधमें भरकर अग्निवाण ग्रहण किया ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्रे दशवक्त्रहानौ कृतोद्यमे क्रव्यभुजः समस्ताः।
मित्राण्यमन्यन्त मृगं कपिं च तपोधनं गाढतरं वनं च ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके दशग्रीव रावणके दशों मस्तकोंके काटनेका उद्योग करने पर समस्त मांसभक्षी जीवोंने और मृग (मारीच) वानर (हनूमान्) तपस्वी (श्रवणके पिता यज्ञदत्त) और बडेभारी वनको अपना विशेष मित्र माना अर्थात् अधिक राक्षसोंके मरनेसे बहुत मांस मिलैगा ऐसा मानकर मांसभक्षी परमप्रसन्न हुए ॥ १६ ॥

समुद्रो रामं प्रति—

अस्मद्गोत्रे भविष्यद्दशरथनृपतेरश्वमेधेषु सर्पिः-
संपातोत्तापलोलज्ज्वलदनलकलाव्याकुलं कूर्मराजम्।
ज्ञात्वा रोदःपुटं वा ननु तव सगरः प्राग्भवो भाविवेत्ता
नेता सप्ताम्बुधीनामपि सविधमवाग्वान्तरश्मिः स्रवन्तीम् १७॥

(समुद्र श्रीरामचन्द्रजीसे) हमारे वंशमें उत्पन्न होनेवाले राजा दशरथके किये अश्वमेध यज्ञमें निरन्तर अग्निके विषे घृतकी आहुति छोडनेसे अत्यन्त प्रदीप्त हुई अग्निकी लपटोंसे कच्छपराज ववडा जायँगे, स्वर्ग और भूमि व्याकुल होजायँगे ऐसा विचार कर भावीके जाननेवाले तुम्हारे पूर्वपुरुष राजा सगर बडे विधानसे सात समुद्रोंके नीचे जो लहरैं उनके सोतोंवाली गंगाजीको पहले ही लेआये थे और वही मेरी उत्पत्तिके कारण हैं ॥ १७ ॥

रामः सरोषम्—

चापमानय सौमित्रे राघवेऽधिज्यधन्वनि।
समुद्रं शोषयिष्यामि पदा गच्छन्तु वानराः ॥ १८ ॥

(रामचन्द्र क्रोधमें होकर) हे लक्ष्मण ! धनुष लाओ, मैं धनुषको चढाकर अभी समुद्रको सुखाढूँगा, फिर सब वानर पैदल ही पार होजायँगे ॥ १८ ॥

ततः प्राञ्जलिपुटोपस्थितस्य समुद्रस्याज्ञया नलेन निबध्य-
माने सेतौ तरतः प्रस्तरानवलोक्याह हनूमान्—

तब हाथ जोडकर खडे हुए समुद्रकी आज्ञासे नल वानरके द्वारा बांधे हुए पुलमें तैरते हुए पत्थरोंको देखकर हनूमान्जी बोले ।

ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परांस्ते प्रस्तरा दुस्तरे
वार्धौ वीर तरन्ति वानरभटान्सन्तारयन्तेऽपि च ।
नैते ग्रावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः
श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमारम्भः समज्जृम्भते ॥ १९ ॥

हे वीर ! जो स्वयं डूबजाते हैं, तथा औरोंको भी नीचे बिठा देते हैं वे ही पत्थर इस कठिनतासे तरने योग्य सागरमें तररहेहैं और वानरयोधाओंको भी तार रहेहैं सो यह न पत्थरोंकी शक्ति है, न समुद्रका ही गुण है और न यह कुछ इन वानरोंकी ही महिमा है, किन्तु यह एक श्रीराममहाराजकी महिमाकाही प्रारम्भ शोभा देरहाहै ॥ १९ ॥

कपेश्च सेनाप्लवगैः पुरोगैः पाथोमयं भूवलयं व्यलोकि ।
तत्पृष्ठगैः पङ्कमयं तदान्यैरासीदिहाम्भोनिधिरित्यवादि ॥ २० ॥
इति श्रीहनुमन्नाटके सेतुबन्धनं नाम सप्तमोऽङ्कः ॥ ७ ॥

वानरोंकी सेनाके आगे चलने वाले वीरोंने तो भूमण्डलको जलमय देखा, उनके पीछे चलने वालोंने कीचडकी समान देखा, और उनकेभी पीछे चलने वालोंने तो यह अनुमान किया कि यहां पहिले कभी समुद्र था । अर्थात् वानरोंके चलनेसे इतनी धूल उडकर समुद्रमें गिरी कि पीछे २ जाने वालोंको कीचड दीखी, और फिर अधिक धूलिके गिरनेसे ढकगया इसकारण उनके पीछे चलने वालोंने जनसमुदाय ही देखा इसीकारण यहां कभी समुद्र था, ऐसा अनुमान किया ॥ २० ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके भाषाटीकायां सेतुबन्धनं नाम सप्तमोऽङ्कः समाप्तः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽङ्कः ।

रामः सुवेलाद्रितटेऽवतीर्णः समुद्रमुल्लङ्घ्य विकीर्णसैन्यः ।
कृपामुपेत्यारिकुलस्य दूतं सुरेन्द्रनप्तारमथादिदेश ॥ १ ॥

समुद्रके पार हो सुवेल पर्वतके किनारे पर उतर कर श्रीरामचन्द्रजीने चारों ओर लम्बी चौडी वडीभारी सेनाका पडाव डालदिया और फिर राक्षसोंके ऊपर कृपा करके इन्द्रके पोते अङ्गदको दूत वनाकर आज्ञादी ॥ १ ॥

रामः—भो महावीराङ्गद !

अज्ञानादथवाधिपत्यरभसादस्मत्परोक्षे हृता
सीतेयं परिमुच्यतामिति वचो गत्वा दशास्यं वद ।
नो चेल्लक्ष्मणमुक्तमार्गणगणच्छेदोच्छलच्छोणित-
च्छत्रच्छन्नदिगन्तमन्तकपुरं पुत्रैर्वृतो यास्यसि ॥ २ ॥

रामचन्द्रजी—हे महावीर अङ्गद !

तुम जाकर रावणसे यह वचन कहो कि अनजानसे वा राज्यके मदसे हमारे पीछे हरीहुई इस जानकीको छोडदे नहीं तो लक्ष्मणके छोडे वाणोंके समूहोंके प्रहारोंसे छलकते खूनसे युक्त तेरेकण्ठोंसे दिशाओंको छाताहुआ अर्थात् तेरे रुधिरमें लथडे हुए दशों शीश चारों ओर लुडकते फिरेंगे और तू पुत्रोंके साथ यमलोकको जायगा ॥ २ ॥

अङ्गदः—

यथाज्ञापयति देवः ।

अङ्गद—जो आज्ञा महाराजकी ।

स्वगतम्—

हन्तुर्हन्तास्मि नो चेत्पितुरपि परमोत्पन्नसम्पूर्णकार्यं
स्याद्वै युद्धे वधिष्याम्यखिलकपिभटैरुत्कटो हन्तुमेकः ।
ज्ञात्वा संत्यज्य वैरं गगनमिति समुत्पत्य लंकोद्भटस्य
प्रौढः पट्टाधिरूढः सुरपतिसुतजस्तन्महोत्पातकेतुः ॥ ३ ॥

(मनही मनमें) यदि इस समय मैं अपने पिताके वैरको स्मरण करके रामचन्द्रको मारडालूं तो वडाही अकाज होगा और यदि पिताके नाशक रामचन्द्रका

हन्ता नहीं होऊँ तो यह उपस्थित पिताका कार्य पूरा होजायगा क्योंकि यह रावणको मारेंगे ही तो इनकाभी कार्य होजायगा और पिता वालिका भी कार्य होजायगा क्यों कि रावण दोनोंका शत्रुहै, पीछे इनके मारनेसे समस्त कार्य्योंकी सिद्धि होगी और इन सब वानरोंके साथ रामका वध करनेको तो मैं अकेलाही बहुत हूं। ऐसा विचार द्वेषको त्याग अङ्गद झट आकाशमेंको छलांग मार बडे अहंकारसे रावणका अनिष्ट करनेको धूमकेतु तारेकी समान रावणके स्थानके बाहरी सिंहासनपर जाकर बैठगए ॥ ३ ॥

ततः प्रविशत्यञ्जलिबद्धः प्रहस्तः ।

देव रामस्य दूतः शाखामृगो द्वारे ॥

तदनन्तर हाथ जोडे हुए प्रहस्तने कहा कि—देव ! रामका दूत वानर द्वार परहै ॥

रावणः—प्रवेशय ।

रावण—आने दो ।

ततः प्रविशति प्रहस्तेन सहाङ्गदः ।

आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा ।

तदनन्तर प्रहस्तके साथ अङ्गदजी आते हैं, और आकाशकी ओर टकटकी बाँध कर—

रे राक्षसाः कथयत क्व स रावणाख्यो
रत्नं रवीन्दुकुलयोरपहृत्य नष्टः ।
त्रैलोक्यदीपनकरत्रिशिखाकराले
यो रामनामदहने भविता पतङ्गः ॥ ४ ॥

अरे राक्षसो ! बताओ, वह रावण नामवाला कहाँ है, जो सूर्यकुल और चन्द्रकुलकी रत्नरूप सीताको चुराकर भाग आया था और जो तीनों लोकोंको प्रलय करनेवाले रुद्र भगवान्के त्रिशूलकी समान भयंकर रामनामरूप अग्निमें पतङ्गकी समान भस्मीभूत होनेवाला है ॥ ४ ॥

रावणः साभ्यसूयम्–

सोऽपि त्वं कमिहावगच्छसि पुरा योऽदाहि लाङ्गूलतो
बद्धो मत्तनयेन हन्त स कथं मिथ्यावदन्नः पुरः ।
किं लङ्कापुरदीपनं तव सुतस्तेनाहतोऽक्षो युधी-
त्युक्तः कोपभयत्रपाभरवशस्तूष्णीमभूद्रावणः ॥ ५ ॥

रावण क्रोधसे–

पहिले जिस वानरकी पूँछ जलाडाली थी और जिसको मेरे पुत्र मेघनादने ब्रह्मफाँससे बाँध लिया था क्या तू ही वह है ? क्या तू यहाँ किसीको पहिचानता नहीं ? अङ्गदने कहा अजी वह तो हनूमान् था और खेदकी बात है कि वह हमसे झूंठ क्यों बोला कि, मैंने लंका फूंकदी और रावणके पुत्रको मारडाला । क्या उसीने तेरी लङ्काको जलादिया था ? और लडाईमें अक्षकुमारको मारडाला था ? ऐसा कहने पर अङ्गदके ऊपर परम क्रुद्ध हनूमान्से भयभीत और इस बातको लोगोंके सुननेसे लाजके वशमें हुआ रावण मौन होगया ॥ ५ ॥

रावणः–

कस्त्वं वानर रामराजभवने लेख्यार्थसंवाहको
यातः कुत्र पुरा गतः स हनुमान्निर्दग्धलङ्कापुरः ।

अरे वानर तू कौन है ? क्या तू रामके राजमहलमें चिठ्ठी भेजने आदिका काम है ? जो पहिले भी आया था और जिसने लंकापुरीको भी जलाया था वह [illegible]ान् कहां गया ? ॥

अङ्गदः साधिक्षेपम्–

बद्धो राक्षससूनुनेति कपिभिः संताडितस्तर्जितः
सव्रीडार्तिपराभवो वनमृगः कुत्रेति न ज्ञायते ॥ ६ ॥

अङ्गद–(आक्षेपके साथ) राक्षसके पुत्र मेघनादने बाँधलिया था, यह सुनकर वानरोंने उसको खूब मारा और धिक्कारा तब वह लज्जा, दुःख और अपमानको पाकर नजाने कहां चलागया यह कुछ मालूम ही नहीं ॥ ६ ॥

योयुष्माकमदीदहत्पुरमिदं योऽदीदलत्काननं
योऽक्षं वीरममीमरद्गिरिदरीर्योऽबीभरद्राक्षसैः ।
सोऽस्माकं कटके कदाचिदपि नो वीरेषु संभाव्यते
दूतत्वेन इतस्ततः प्रतिदिनं संप्रेष्यते सांप्रतम् ॥ ७ ॥

जिसने तुम्हारी इस नगरीको भस्म किया था, जिसने तुम्हारे बगीचेको उखाड-डाला था, जिसने वीर अक्षको मारा था और जिसने पर्वतोंकी गुफाओंको राक्षसोंके मृत शरीरोंसे भरदिया था, वह वानर तो हमारी सेनामें कभी वीरोंकी गिनतीमें मानाही नहीं जाता, आजकल केवल दूत बनाकर इधर उधर भेज दिया जाताहै ॥७॥

अपि च–

यो लङ्कां समदीदहत्तव सुतं रक्षांसि चापीपिष-
द्यः कौशल्यमवीवदज्जनकजामब्धिं तथातीतरत् ।
यश्चारामममूमुटत्स हनुमानस्मत्प्रवीरोद्यमे
दूराक्रामणदौत्य एव न पुनर्योद्धुं समादिश्यते ॥ ८ ॥

औरभी सुन—जिसने लंकाको जलाया था, जिसने तेरे बेटे अक्ष तथा अन्य राक्षसोंकाभी चूरा २ कर दिया था, जिसने कोसलेशको जानकीकी कुशल सुनाई थी, जो समुद्रकोभी लाँघकर चलागया था और जिसने तुम्हारे बागको तोड मरोड डाला था, वह वीर हनूमान् इस समय हमारे श्रेष्ठ वीरोंका जमाव होनेपर युद्ध करनेको नहीं भेजा जाता है, किन्तु दूर देशको भेजनेमें और दूतका काम करनेमें ही भेजा जाताहै अर्थात् जो हनूमान् तेरा ऐसा अपमान करगया वह तो हमारे यहांके वीरोंमें कुछ है ही नहीं ॥ ८ ॥

रावणः सावज्ञम्–

रामः स्त्रीविरहेण हारितवपुस्तच्चिन्तया लक्ष्मणः
सुग्रीवोऽङ्गदशल्यभेदकतया निर्मूलकूलद्रुमः ।

गण्यः कस्य विभीषणः स च रिपोः कारुण्यदैन्यातिथि-
र्लंकातङ्कविटंकपावकपटुर्वध्यो ममैकः कपिः ॥ ९ ॥

(रावण तिरस्कारके साथ) रामचन्द्र तो अपनी स्त्रीके वियोगसे ही शरीरको हार बैठा है, लक्ष्मण उस अपने भाईकी चिन्तासे ही दुर्बल होरहाहै, सुग्रीव और अङ्गद परस्पर भेदकी शंकासे नदीके किनारेके जडरहित वृक्षकी समान आसन्न मरणहैं और विभीषणको तो गिनताही कौनहै ? क्योंकि वहतो वैरीकी दया और दीनता काही भिखारी है, अर्थात् इतनोंमें मुझसे युद्ध करनेकी कोई भी शक्ति नहीं रखता. एक लंकानिवासी राक्षसोंको भयकी अग्नि देनेमें चतुर उस हनूमान्नामक वानरकाही मुझको वध करनाहै ॥ ९ ॥

कस्त्वं वन्यपतेः सुतो वनपतिः कः सार्थिकस्त्वेकदा
यातः सप्तसमुद्रलंघनविधावेकाह्निको वेद्मि तम् ।
अस्ति स्वस्तिसमन्वितो रघुवरे रुष्टेऽत्र कः स्वस्तिमा-
न्को भूयादनरण्यकस्य मरणातीतोचिताम्बुप्रदः ॥ १० ॥

रावण—तू कौन है ? अङ्गद—वालीका पुत्र । रावण—कौनसा वाली ? अङ्गद—जो एक समय समुद्रको एक ही दिनमें लाँघगया था । रावण—उसको मैं जानता हूँ, वह कुशलसे तो है ? अङ्गद—राजा अनरण्यकी मृत्युके अनन्तर जो तेरे रुधिररूप जलके दाता हैं, उन श्रीरामजीके रुष्ट होजाने पर कौन कुशलसे रहसकता है ? अर्थात् कोई नहीं रहसकता ॥ १० ॥

रामः किं कुरुते प्रतीपविजयं कोऽसौ प्रतीपो जितो
वाली सोऽपि च को न वेत्सि किममुं को वेत्ति शाखामृगम् ।
आस्तेऽत्रापि तवास्ति विस्मृतिरहो मोहो महानीदृशः
पर्यङ्के निजबालकेलिकृतये बद्धोऽसि येनोपरि ॥ ११ ॥

रावण—राम क्या करता है ? अङ्गद—शत्रुओंको जीतते हैं, रावण—वह कौनसा शत्रु है जिसको जीता ? अङ्गद—वाली, रावण—वह वाली कौन है ? अङ्गद—

क्या तू उसको नहीं जानता ? **रावण**-अरे वानरको कौन जानता है, **अङ्गद**-ओ हो तू यह भी भूल गया कि वाली कौन है ? ऐसा अनजान बनता है कि, जिस वालीने तुझको मेरे खेलनेके लिये पालनेके ऊपर बांध दिया था उसको भी भूलगया ॥ ११ ॥

अङ्गदः-

आदौ वानरशावकः समतरद्दुर्लंघ्यमम्भोनिधिं
दुर्भेद्यान्प्रविवेश दैत्यनिवहान्तसंपेष्य लंकापुरीम् ।
क्षिप्त्वा तद्वनरक्षिणो जनकजां दत्त्वा तु भुक्त्वा वनं
हत्वाक्षं प्रदहन्पुरीं च स गतो रामः कथं वर्ण्यते ॥ १२ ॥

अङ्गद-पहिले तो वानरका बच्चा ही बडी काठिनतासे तरनेयोग्य समुद्रको लाँघगया, अजेय राक्षसोंके समूहोंको चूरा २ करके लंकामें घुसआया, तेरे बगीचेके रखवालोंको मार जानकीजीको मुद्रिका दे, वनके फलोंको खा, और अक्षकुमारका प्राण ले, लंकापुरीको जलाताहुवा लौटगया । तब फिर रामचन्द्रजीका तौ मैं वर्णन ही क्या करूं ॥ १२ ॥

रावणः समाक्षिपति-

भग्नं भस्मसुमापतेरजगवं वाली क्षतः सूक्ष्मत-
स्तालाः सप्त हता हताश्च जलधिर्बद्धश्च बद्ध सः
आः किं तेन सशैलसागरधराधारोरगेन्द्राङ्गदं
साद्रिं रुद्रमुदस्यतो निजभुजाञ्जानात्यसौ रावणः ॥ १३ ॥

(रावण आक्षेप करता है) रामने तो घुनकर खाकहुवा शिवका धनुप तोडा और वालीको संकेतसे मारा, टूटेहुए सात ताडके वृक्षोंको नष्ट किया और सागरको बाँधा ओः यह तौ उन्होंने कुछ भी नहीं किया, पहाड और समुद्रोंके साथ पृथ्वीको धारण करनेवाले शेषनागरूप बाजूबन्दवाले शिवको कैलासके सहित उठानेवाली अपनी भुजाओंको यह रावण ही जानता है ॥ १३ ॥

अङ्गदः साटोपं स्वामिभक्तिमभिनीय-

कृत्वा कक्षागतं त्वां कपिकुलतिलको वालिनामा बलीया-
न्भ्रान्तः सप्ताब्धितीरे क्षणमिव चरितं स्नानसन्ध्यार्चनं च ।
बाणेनैकेन येनाहत इति पतितो वानरव्रीडयैव
त्यक्त्वा सोऽपि प्रगर्वं द्युमणिसुतपुरं मुञ्च लंकेश गर्वम् ॥ १४ ॥

(अङ्गद क्रोधसे स्वामीकी भक्तिका परिचय देते हुए) तुझको अपनी कांखमें दवोच कर जो सातों समुद्रोंके तटोंपर घूमता फिरा और क्षणमात्रमें ही जिसने सन्ध्यावन्दनादि कृत्य कर लियेहैं ऐसा वह वानरोंमें बली वालीभी जिन रामके एकही वाणसे ताडितहो वानरोंकी लज्जासे ही गिरता हुआ, अभिमानको त्याग यमराजके लोकको पधारगया इस कारण लंकेश ! तू भी गर्वको त्याग दे ॥१४॥

यत्संदेशहरेण मारुतसुतेनातारि वारां निधिः
क्षिप्रं गोष्पदवन्निजालयमिव प्रावेशि लङ्कापुरी ।
सीतादर्शि समभ्यभाषि च वनं चाभाञ्जि रक्षःपतेः
सैन्यं भूर्यवधि व्यदाहि च पुरी रामः कथं वक्ष्यते ॥ १५ ॥

जिसके दूत हनूमान्‌ने गौके खुरके चिह्नकी समान वडी शीघ्रतासे समुद्रको लाँघलिया और लंकापुरीमें अपने गृहकी तुल्य प्रवेश किया, जानकीको देख उनसे वार्त्ता की, वाटिकाका सत्यानाशकिया, राक्षसराज रावणकी बहुतसी सेनाको नष्ट किया तथा लंकाको जलाकर भस्म कर दिया तो फिर रामचन्द्रजीका तो कहनाही क्याहै ॥ १५ ॥

रावणः सक्रोधम्-

कुतो हन्तारण्ये कनकमृगमात्रं तृणचरं
कुतो वृक्षाद्वृक्षप्लवननिपुणो वालिनिहतः ।

कुतो वह्निज्वालाजटिलशरसन्धानसुदृढस्त्वहं
युद्धोद्योगी गगनमधितिष्ठेन्द्रविजयी ॥ १६ ॥

(रावण क्रोधसे)

घासका खानेवाला सोनेका एक हिरन वनमें मारा तो क्या हुवा? तथा एक पेड-परसे दूसरे पेडपर कूद फांद करनेमें चतुर वानर वालीका वध किया तौ क्या? अग्निकी शिखाकी समान जटावाले वाण चलानेमें निपुण रामभी क्या है? इन्द्रविजयी युद्धका उत्साही मैं तो आकाशमें बैठा हूं अर्थात् देवताओंको भी मैंने जीत लियाहै ॥ १६ ॥

अङ्गदः सम्मदम्—

संधौ वा विग्रहे वापि मयि दूते दशानन
अक्षतो वा क्षतो वापि क्षितिपीठे लुठिष्यसि ॥ १७ ॥

(अङ्गद—अहंकारसे)

रे दशानन! मेरे रामचन्द्रजीका दूत बनकर आनेका यह परिणाम होगा कि यदि मेल करेगा तब तो विना घावके ही तुझको रामचन्द्रजीके सामने जाकर भूमिपर लोटना होगा और यदि युद्ध करेगा तो घायलहोकर भूमिमें लोटेगा ॥ १७ ॥

अवेहि मां रावण रामदूतं बाणा यदीयाः खरदूषणैणम् ।
भुक्त्वा तृषार्ता इव शोणिताम्भः पास्यन्ति ते कण्ठघटैः सरन्ध्रैः १८

रे रावण! तू मुझको उन रामचन्द्रजीका दूत समझ जिनके वाण खरदूषणरूप मृगको भक्षण करके प्यासे होरहे हैं सो अब तेरे कण्ठरूप घडोंके छेदोंमेंसे निकले हुए रुधिररूप जलको पीवेंगे ॥ १८ ॥

रावणः—वानराधम! कटुप्रलापिन्पश्य—

मृत्युः पादान्तभृत्यस्तपति दिनकरो मन्दमन्दं ममाग्रेऽ-
प्यष्टौ ते लोकपाला मम भयचकिताः पादरेणुं ववन्दुः ।
दृष्ट्वा तं चन्द्रहासं स्रवति सुरवधूपन्नगीनां च गर्भो
निर्लज्जौ तापसौ तौ कथमिह भवतो वानरान्मेलयित्वा॥ १९॥

रावण—रे वानरोंमें नीच ! कटुभाषी ! देख ! पैर दाबनेवाला मेरा सेवक तो मृत्यु है , सूर्य मेरे यहाँ आकर तापनेकी अँगीठीका काम देता है, आठों लोकपाल भयसे घबडाकर मेरे चरणोंकी धूलिको प्रणाम करते हैं, मेरी चन्द्रहास तलवारको देखकर देवताओंकी स्त्री और नागोंकी पत्नियोंके गर्भ गिरजाते हैं, तो फिर निर्लज्ज वह दोनों तपस्वी वानरोंको मेरे सामने भेजकर सीता को कैसे पासकते हैं ? ॥१९॥

अंगदः—

तत्क्षणाविष्कृतक्रोधः कम्पमानः पाणितलेन भूतलं ताड-
यित्वा दोःस्तम्भास्फालकेलिं नाटयति—

अङ्गद—उसी समय क्रोधको प्रकट कर काँपतेहुए अपनी हथेलीसे पृथ्वी पर थपकी दे, दोनों भुजदण्डोंको ठोकते हैं—

रे रे राक्षसवंशघात समरे नाराचचक्राहतं
रामोत्तुङ्गपतङ्गचापयुगले तेजोभिराडम्बरे ।
मन्ये शीर्षमिदं त्वदीयमखिलं भूमण्डले पातितं
गृध्रैरालुठितं शिवाकवलितं काकैः क्षतं यास्यति ॥२०॥

रे राक्षस कुलके घातक ! प्रतीत होता है कि श्रीरामचन्द्रजीके परमोत्तम धनुष-बाणके तेजसे परिपूर्ण युद्धका आरम्भ होनेपर बाणोंसे कटेहुए तेरे समस्त मस्तक पृथ्वी पर गिरायेहुए लुडकैंगे, जिनको कि लेकर गीध आकाशको उडेंगे, गीदडियें कुतरेंगी तथा कौवे नोचेंगे ॥ २० ॥

रावणः सप्रपञ्चम्—

रे रे शाखामृग ! त्वामहं धर्मशीलतया कटुप्रलापिनमपि न हन्मि ।

(रावण तिरस्कारसे) रे वानर ! मैं धर्मशील होनेके कारण कडुवे वाक्य बोलते हुए भी तुझको नहीं मारता हूँ ॥

उक्तं च—यथोक्तवादी दूतः स्यान्न स वध्यो महीभुजा ।
क्रूरस्तदीयकोपेन क्वचिद्वैरूप्यमर्हति ॥ २१ ॥

कहा भी है कि—दूत सत्य बोलनेवाला होता ह, इस कारण राजाको योग्य है कि, दूतका वध न करै यदि दूत क्रूर हो और उसके ऊपर क्रोध आजाय तो किसी अङ्गमें कुरूप करदेवै, अर्थात् नाक कान आदि काटकर छोडदेवै ॥ २१ ॥

अङ्गदः सवैदग्ध्यम्—

परदारापहरणे न श्रुता या दशानन ।
दृष्टा दूतपरित्राणे साधोस्ते धर्मशीलता ॥ २२ ॥

(अङ्गद चतुराईसे) हे दशमुख! जो तुम्हारी धर्मपरायणता परस्त्रीहरण करनेमें नहीं सुनी थी, वह धर्मपरायणता दूतकी रक्षा करनेमें देखी गयी ॥ २२ ॥

रावणः सगर्वम्—

इन्द्रं माल्यकरं सहस्रकिरणं द्वारि प्रतीहारकं
चन्द्रं छत्रधरं समीरवरुणौ संमार्जयन्तौ गृहान् ।
पाचक्ये परिनिष्ठितं हुतवहं किं मद्गृहे नेक्षसे
रक्षोभक्ष्यमनुष्यमात्रवपुषं तं राघवं स्तौषि किम् ॥२३॥

(रावण मदसे)

अरे ! क्या तू नहीं देखता है कि—इन्द्र मेरा माला वनानेवाला माली है, सूर्य मेरे द्वार पर ड्योढीवान् है, चन्द्रमा छत्र धारण करता है, वायु और वरुण मेरे महलोंमें झाडना वुहारना और छिडकाव करते हैं और भोजन वनानेके काम पर अग्नि है, इतने पर भी दैत्योंके भक्षण करने योग्य केवल मनुष्यशरीरवाले उस रामकी वडाई तू कैसे करता है ॥ २३ ॥

अङ्गदो विहस्य—

रे रे रावण हीन दीन कुमते रामोऽपि किं मानुषः
किं गङ्गापि नदी गजः सुरगजोऽप्युच्चैःश्रवाः किं हयः ।
किं रम्भाप्यवला कृतं किमु युगं कामोऽपि धन्वी नु किं
त्रैलोक्यप्रकटप्रतापविभवः किं रे हनूमान्कपिः ॥ २४ ॥

(अंगद हँसकर)

अरे हीन ! दीन ! विपरीत बुद्धिवाले ! रावण ! क्या रामचन्द्रजीकी मनुष्योंमें गिनती है ? क्या गंगा भी नदी है ? क्या ऐरावत भी हाथी है ? क्या उच्चैः- श्रवा कोई सामान्य घोडा है ? क्या रम्भा अप्सरा भी साधारण अबला है ? सत्ययुग भी क्या साधारण युग है ? क्या कामदेव भी सामान्य धनुषधारी है ? और त्रिलोकीमें प्रसिद्ध प्रतापी तथा ऐश्वर्यवाला हनूमान् क्या साधारण ही वानर है ? अर्थात् इनको साधारण ही मत समझ ॥ २४ ॥

रावणः सरोषम्–

कस्त्वं कस्यासि पुत्रः क्व पुनरिह गतः किंनु कृत्यं च कस्मा-
द्विस्पष्टं विष्टपानां विजयिनमपि मां मन्यसे त्वं तृणाय ।
हंहो पौलस्त्यपुत्रस्तव बलमथनस्यांगदोऽहं सुवेला-
त्संप्राप्तो रामदूतो विसृज जडमते जानकीं वा शिरो वा॥२५॥

(रावण क्रोधमें भरकर) अरे ! तू कौन है ? तू किसका पुत्र है ? जो पहिले यहाँ लंकामें आया था वह कहां है ? यहाँ क्या काम है ? देवताओंको भी जीतने- वाले मुझको तू जिसके बल पर तिनुकेके समान मानता है ? अङ्गद–अरे ! मैं जानता हूँ तू पुलस्त्यके वंशका है, मैं तेरे बलको मथने वाले वालिका वेटा अङ्गद सुवेल पर्वतसे रामका दूत बनकर आया हूँ, अरे मूढमते ! अब तू या तो जानकी को छोड़, नहीं तो अपने मस्तकोंको दे अर्थात् मारा जायगा ॥ २५ ॥

रावणः–

धिग्धिगङ्गद मानेन येन ते निहतः पिता ।
निर्माना वीरवृत्तिस्ते तस्य दूतत्वमागतः ॥ २६ ॥

रावण–अरे अङ्गद! वार २ तुझको धिक्कार है अरे ! जिसने तेरे पिताको अहंकारमें होकर मारा तू उसीका दूत बनकर आया है यह तेरा वीरता का वर्त्ताव सन्मानके योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

अङ्गदः-

युक्तं कृतं तु रामेण येन मे निहतः पिता ।
त्रैलोक्ये शास्तिकृत्याय वर्तते स दुरात्मनाम् ॥ २७ ॥

अङ्गद-रामचन्द्रजीने जो मेरे पिताका वध किया सो ठीक ही किया, क्योंकि तीनों लोकोंमें दुष्टात्माओंको दण्ड देनेके कार्यके निमित्त ही उन्होंने इस अवतारको धारण किया है ॥ २७ ॥

किं कार्यं वद राघवस्य न च किं बद्धः किमम्भोनिधिः
क्रीडार्थं कपिपोतकैरतरलं जानात्यसौ मां नहि ।
लङ्कानाकनिकायवैरिवसतिं किं वेत्ति वेत्त्येव हुं
को लंकाधिपतिर्विभीषण इति प्रख्यातकीर्तिर्भुवि ॥ २८ ॥

रावण-अच्छा तू दूत बनकर आया है तो बता रामचन्द्रका क्या काम है ? अङ्गद-कुछ भी नहीं, रावण-तौ फिर समुद्र पर सेतु क्यों बाँधा है ? अङ्गद-वानरोंके बच्चोंने खेलके लिये । रावण-रणमें स्थिर रहनेवाले मुझको क्या वह राम नहीं जानता ? और क्या मुझ देवताओंके वैरीके रहनेकी यह लंकापुरी है इस बातको वह जानताहै ? अङ्गद-हाँ जानतेहैं । रावण-क्या तुझको यह नहीं माल्रुम है कि लंकाका राजा कौन है ? अङ्गद-अरे समस्त भूमण्डल पर जिसका यश फैल रहा है, वह विभीषण नामवाला ही लंकाका राजा है ॥ २८ ॥

रावणः-

बद्धः सेतुर्यदि जलनिधौ वानरैस्तावता किं
नो वल्मीकाः क्षितिधरनिभाः किं क्रियन्ते पिपीलैः ।
दग्धा लंका यदपि कपिना स प्रभावः किलाग्नेः
शौर्याश्चर्यं निजभुजजये किं कृतं रामनाम्ना ॥ २९ ॥

रावण-यदि वानरोंने समुद्रमें पुल बाँध ही लिया तो उससे क्या है ? क्या छोटी २ चींटियें पहाडोंकी समान बमई नहीं बनालेती हैं ? और जो बन्दरने लंका-

को जलाया था वह तो अग्निका प्रभाव था, उस रामनामकने अपनी भुजाओंकी जीतमें कौनसा वीरताका आश्चर्य किया है? ॥ २९ ॥

अंगदः–

रामो नाम स एव येन भगिनीनासावसापंकिलः
खड्गस्ते खरदूषणत्रिशिरसां धौतः शिरःशोणितैः ।
तद्वालान्तिनितान्तबद्धवपुषः संमूर्च्छितस्य ध्रुवं
घ्राणं दर्पमिव स्वसुर्विलुठितं रामः कथं विस्मृतः ॥ ३० ॥

अङ्गद–अरे ! राम वही हैं कि, जिन्होंने तेरी बहिनकी नाककी चर्बीकी कीचसे सने अपने खड्गको खर दूषण और त्रिशिराके शिरके रुधिरसे धोया था । और जिन रामचन्द्रने तेरे मूर्तिमान् घमण्डकी समान उनकी स्त्री सीताके समीप खूब डटकर खडीहोने वाली तेरी बहिनकी नाक काट डाली थी, जिसको सुनते ही तुझको निःसन्देह मूर्च्छा आगई होगी, अरे ! उन रामको तू कैसे भूलगया ? ॥३०॥

रावणः–

परिमितमहिमानं क्षुद्रमेनं समुद्रं
क्षितिधरघटनाभिः कोयमुत्तीर्य गर्वः ।
अकलितमहिमानः सन्ति दुष्प्रापपारा
दशवदनभुजास्ते विंशतिः सिन्धुनाथाः ॥ ३१ ॥

रावण–जिसका थोडासा प्रभाव है ऐसे इस छोटेसे सागरको पर्वतोंकी शिलाओंका पुल बनाकर उतरे, इतने पर यह क्या घमण्ड ? अरे! अभी तो जिनका पार नहीं मिलसकता ऐसे अतर्कित प्रभाव वाले, समुद्रके रक्षक दशाननके बीस भुजदण्ड विद्यमान हैं ॥ ३१ ॥

अंगदः–

रे रे रावण रावणाः कति बहूनेतान्वयं शुश्रुम
प्रागेकं किल कार्त्तवीर्यनृपतेर्दोर्दण्डपिण्डीकृतम् ।

एकं नर्तनदापितान्नकवलं दैत्येन्द्रदासीगण-
रन्यं वक्तुमपि त्रपामह इति त्वं तेषु कोऽन्योऽथवा॥ ३२॥

अङ्गद-अरे हे रावण ! न जाने रावण कितने हैं, इन वहुतसे रावणोंको तो हमने सुना है, कहते हैं कि, पहिले एक तो सहस्रवाहुकी भुजाओंसे बाँधागया था। एकको राजावलिकी दासियोंने नाचने पर रोटीके ग्रास दिये थे और एक तीसरे-का वर्णन करते हमको लज्जा आती है, (अर्थात् उसको मेरे पिताने काँखमें दवा रक्खा था और मेरी क्रीडाके निमित्त खाटसे बांधदिया था, तथा मैंने उसको लातोंसे कूटा था। उसका नाम लेते इस कारण लज्जा आती है कि अपने पिताकी वडाई करना अनुचित है,) सो वता तू इनमेंसेही कोई है या इनसे भिन्न कोई और ही रावण है ॥ ३२ ॥

रावणः-

भ्राता मे कुम्भकर्णः सकलरिपुकुलव्रातसंहारमूर्तिः
पुत्रो मे मेघनादः प्रहसितवदनो येन बद्धः सुरेन्द्रः ।
खड्गो मे चन्द्रहासो रणमुखचपलो राक्षसा मे सहायाः
सोऽहं वै देवशत्रुस्त्रिभुवनविजयी रावणो नाम राजा॥ ३३॥

रावण-अरे ! सुन समस्त वैरियोंके समूहोंके निमित्त प्रलयरूप मूर्तिवाला कुम्भकर्ण तो मेरा भ्राता है, जिसने इन्द्रको वांधलिया था वह सदा प्रसन्नमुख रह-नेवाला मेघनाद मेरा पुत्र है, संग्राममें फुर्ती दिखानेवाली चन्द्रहासनामक मेरी तलवार है और राक्षस मेरी सहायता करनेवाले हैं, वही मैं निःसन्देह देवताओंका शत्रु और तीनों लोकोंकी विजय करनेवाला रावणनामक राजा हूँ ॥ ३३ ॥

प्रहस्तः सरोषम्-

स्यातां नाम कपीन्द्रहैहयपती तस्यावगाढान्तर-
स्थेमानौ दशकन्धरस्य महती स्कन्धप्रतिष्ठा पुनः ।

सद्यःपाटितकण्ठकीकसकणाकीर्णां यदंसस्थलीं
स्वेनेभाजिनपल्लवेन झटिति प्रास्फोटयद्धूर्जटिः ॥ ३४ ॥

(प्रहस्त क्रोधके साथ)

जिनके शरीरमें वडा भारी वल था ऐसे वाली और सहस्रावाहु भले ही कभी हुए होंगे परन्तु आजकाल तौ रावणके स्कन्धोंकी ही वडी भारी प्रतिष्ठा है । जव कि रावणने क्षणभरमें ही शिवजीके निमित्त अपने शिर काटे थे, उस समय उसकी हड्डियोंके कणोंसे व्याप्त हुए रावणके कन्धोंको शिवजी महाराजने अपने आपही गज-चर्मके हाथ पैरोंसे झाडा पोंछा था ॥ ३४ ॥

रावणः-

सर्वैर्यस्य समं समेत्य कठिनां वक्षस्थलीं संयुगे
निर्भग्नं मुखमेव दन्तमुसलैरैरावतस्योन्नतैः ।
हेलोत्क्षिप्तमहीध्रकम्पजनितत्रासाङ्गनालिङ्गन-
प्राप्तानन्दहरप्रसादमुदितश्चिन्त्यः स मेऽन्यो रिपुः ॥ ३५ ॥

रावण—जिस समय संग्राममें ऐरावत हस्तीके मूसलकी समान सकल दांत एक साथ मेरे कठोर वक्षःस्थल (छाती) में आकर लगे तौ उनकी आगेकी नोकें टूटगईं और मुझको कुछ भी कष्ट न हुवा और जिस समय मैंने खेलमें ही कैलास पर्वतको उठाया था उस समय पर्वतके हिलनेसे भयभीत होकर पार्वती शिवजीको चिपटगईं तव उनके आलिंगनसे आनन्द पाकर श्रीमहादेवजी वडे ही प्रसन्न हुए । इस दशामें राम तो मेरे सामने है ही क्या वस्तु ? कोई और प्रवल शत्रु हो तो वताओ कि जिस पर मैं विचार करूँ ॥ ३५ ॥

अङ्गदः-

रे रे रावण शंभुशैलमथनप्रख्यातवीर्य्यैः कथं
रामं योद्धुमिहेच्छसीदमखिलं चेत्तन्न युक्तं तथा ।

रामस्तिष्ठतु लक्ष्मणेन धनुषा रेखा कृता लङ्घिता
तच्चारेण च लंघितो जलनिधिर्दग्धा हतोक्षः पुरी ॥ ३६ ॥

अङ्गद–अरे रे रावण ! महादेवजीके कैलासको उठानेसे प्रसिद्ध यशवाले दशकण्ठ तू इस समय रामचन्द्रजीसे संग्राम करनेकी इच्छा रखता है, तेरा यह सब विचार ठीक नहीं है, राम तौ अलग रहैं श्रीलक्ष्मणजीने धनुषसे रेखा करदी थी, क्या तू उसको लाँघसका था ? और देख उनके दूतने ही समुद्रको उल्लंघन कर अक्षको मारा तथा लंकापुरी को जला भस्म करादिया ॥ ३६ ॥

रावणः–

यन्मां त्वं वदसि प्रचूर्णितबलान्हेमाक्षदैत्येश्वरा-
ञ्छेषस्याप्यथवा हिरण्यकशिपोर्भस्माङ्गदस्याङ्गद ।
अन्येषाममराद्विषां बलकथा मद्बाहुसारादलं
रामश्चेद्रिपुहा प्रियापहरणे संधिं विधत्ते कथम् ॥ ३७ ॥

रावण–हे अंगद ! मुझको जो नष्टप्रताप बताता है, तो हिराण्यक्ष अथवा और बचे हुए हिरण्यकशिपु भस्माङ्गद दैत्य तथा अन्य भी देवताओंके शत्रु राक्षसोंके बलकी कहानीको मेरी भुजाओंके बलसे ही पूर्ण समझ अर्थात्–उन सबका बल मेरी भुजाओंके पराक्रमसे थोडाहै और यदि रामचन्द्र शत्रुका वध करसकता है तो जानकीके हरेजाने पर सन्धि क्यों करता है ? ॥ ३७ ॥

अङ्गदः–

शिरोभिर्मा देवीः शिव इव न ते दास्यति पुनः
प्रबन्धं पश्यान्धेः सरस इव कैलाससुभट ।
हितं तु ब्रूमस्त्वां मम जनकदोर्दण्डविजय-
स्फुरत्कीर्तिस्तम्भस्त्यज कमलबन्धोः कुलवधूम् ॥ ३८ ॥

अंगद–हे कैलासके उटानेमें शूर ! तू अपने मस्तकोंसे क्रीडा मत कर, रामचन्द्रजी शिवजीकी समान तेरे शिरोंको लौटाकर नहीं देंगे क्योंकि–सरोवरकी समान

समुद्रके सेतुबन्धन को ही देखले। हे रावण ! तू मेरे पिताके भुजदण्डोंके विजयका चलता फिरता कीर्तिस्तम्भ है, क्योंकि–जहाँ जहाँ तू जाताहै तहाँ तहाँ ही "इसको वालीने बाँधा था" ऐसी मेरे पिताकी कीर्ति होती है, अतः जबतक तू जीता रहैगा, मेरे पिताका यश रहैगा, इस कारण मैं तुझसे हितकी बात कहता हूँ कि–सूर्य्यवंशकी कुलवधू जानकीको छोडदे ॥ ३८ ॥

रावणः–

कस्त्वं वालितनूद्भवो रघुपतेर्दूतः स वालीति कः
को वा वानर राघवः समुचिता ते वालिनो विस्मृतिः ।
त्वाम्बद्धा चतुरम्बुराशिषु परिभ्राम्यन् मुहूर्तेन यः
सन्ध्यामर्चयति स्म निस्त्रप कथं तातस्त्वया विस्मृतः ॥ ३९ ॥

रावण–तू कौन है ? अङ्गद–वालीका पूत और रामचन्द्रजीका दूत। रावण–रे वन्दर ! वह वाली कौन है ? और राम कौन है ? अङ्गद–तेरा वालीको भूल-जाना ठीक ही है। अरे ! जिसने तुझको बाँधकर मुहूर्त्तभरमें चारों समुद्रोंपर घूमकर संध्यासमयका पूजन किया था रे निर्लज्ज ! उस मेरे पिताको तू कैसे भूलगया ? ॥ ३९ ॥

त्वद्दोर्दण्डप्रचण्डप्रतिहननविधिप्रौढबाह्वोः सहस्र-
च्छेदक्रीडाप्रवीणस्थिरपरशुमहागर्वनिर्वापकस्य ।
दूतोऽहं राघवस्य त्वदयनघृणावासवालाग्रलोम्नः
पुत्रः सुत्रामसूनोः प्लवगबलपतेर्नामतश्चांगदोऽहम् ॥ ४० ॥

अरे ! तेरे प्रचण्ड भुजदण्डोंके बलके हरनेके काममें अहंकार रखनेवाले सहस्रबाहु-अर्जुनकी सहस्रों भुजाओंके काटनेकी क्रीडामें प्रवीण परमधीर परशुरामजीके बडे भारी घमण्डको ठंढा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीका तो मैं दूत हूँ, और शरीर पर दया आनेके कारण अपनी पूँछके वालोंके अग्रभागको तेरा विश्रामस्थान बनानेवाले अर्थात् तुझको बगलमें दबाकर जहाँ तहाँ घूमते हुए जब लौटकर आये तो तुझको

अचेतन देख जिसने अपनी पूँछके अग्रभाग पर बैठाकर सचेत किया था उस वानर सेनापति इन्द्रकुमार वालिका मैं पुत्र हूँ ॥ ४० ॥

रावणः–

यद्भग्नाः किल बालतालतरवो रामेण सार्द्रत्वच-
श्छिन्नं यच्च पुरातनं शिवधनुस्तद्वीर्य्यमुद्दिश्यते ।
नासीदेतदनागतं श्रुतिपथं स्वर्लोकधूमध्वजः
पौलस्त्यः करकन्दुकीकृतहरक्रीडाचलो रावणः ॥ ४१ ॥

रावण–अरे ! रामने जो गीली छालवाले छोटे २ ताडके वृक्ष वेध दिये और जो पुराना शिवजीका धनुष तोडा था, क्या उसी वीरताको कहता है? अरे यह तो कुछ भी नहीं है क्या यह बात कभी कानोंमें नहीं पहुँची कि स्वर्गवासी देवताओंके लिये अग्निरूप पुलस्त्यके वंशधर रावणने महादेवके विहार करनेके कैलास पर्वतको अपने हाथोंसे क्रीडाकी गेंदकी समान उठालिया ॥ ४१ ॥

शूराः श्रोत्रपथेषु नः कति कति प्राञ्चः पदं चक्रिरे
तेषामेव विलंघ्य साम्यसरणिं जागर्ति लंकाभटः ।
यद्दोर्मण्डलगाढपीडनवशान्निस्पन्दरक्तच्छटाः
शंकामंकुरयन्ति शंकरगिरेरद्यापि धातुद्रवाः ॥ ४२ ॥

हमारे कानोंमें कितनेही शूरतासे पूजित वीरोंने स्थान किया है अर्थात् हमने बहुतसे वीरोंके नाम सुने हैं, परन्तु वह लंकाका शूर उनकी समान श्रेणीको लाँघकर जागरहा है, जिसके कि भुजदण्डोंके समूहसे परम पीडा पानेके कारण निकले हुए रुधिरकी समान प्रतीत होनेवाले कैलास पर्वतके धातुओंके वहते हुए प्रवाह अभीतक इस शंकाको उत्पन्न करते हैं कि यह कहींसे रुधिरकी धारें चली आरही हैं ॥ ४२ ॥

स्वेपूत्कृत्य हुतेषु मूर्धसु जवादग्नेः स्फुटित्वा वहि-
र्व्याकीर्णेष्वलिकेषु दैवलिखितं दृष्ट्वापि रामार्पणम् ।

चित्तेनास्खलितेन यस्तदधिकं ब्रह्माणमप्रीणय-
त्तस्मै कः प्रथमाय मानिषु महावीराय वैरायते ॥ ४३ ॥

केशोंसे शोभित अपने शिरोंको वडे वेगके साथ काटकर हवन करनेके अनन्तर अग्निमेंसे फूटकर वाहर फैलने पर सकल शिरोंमें देवके लिखे रामार्पण अर्थात् रामसे काल होगा ऐसा लिखाहुआ देखकर भी जिसने मनको सावधान करके शिवजीको पूर्वसे भी अधिक सन्तुष्ट किया उस मानियोंमें मुख्य मुझ महावीर रावणसे कौन वर कर सकता है? ॥ ४३ ॥

वीरोसौ किमु वर्ण्यते दशमुखश्छिन्नैः शिरोभिः स्वयं
यः पूजार्थसमुत्सुको घटयितुं देवस्य खट्वाङ्गिनः ।
सूत्रार्थी हरकण्ठसूत्रभुजगव्याकर्षणायोद्यतः
साटोपं प्रमथैः कृतं भ्रुकुटिभिः स्थित्वान्तरे वारितः॥ ४४॥

नरकपालमालाधारी शिवकी अपने आप काटे हुए अपने शिरोंसे पूजा करनेको उत्कण्ठित हुवा जो दशानन अपने मस्तकोंको काटलेने पर उनको पिरोनेके निमित्त सूत्रकी आवश्यकता मान महादेवजीके कण्ठमें सूतकी समान लिपटेहुए सर्पके खींचनेको उद्यत होनेलगा, उस समय हँसते नाचते और भ्रुकुटि मटकाते हुए शिवगणोंने मध्यमें खडे होकर हटादिया, ऐसे वीर रावणका क्या किसीसे वर्णन होसकता है? ॥४४॥

(अत्रान्तरे प्रविश्य) प्रतीहारः-

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं वहिः स्थीयतां
स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः ।
स्तोत्रं संहर नारद स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो ।
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लंकेश्वरः ॥ ४५ ॥

(इसी मध्यमें द्वारपाल भीतर जाकर) अरे ! ब्रह्मा ! यह वेद पढनेका समय नहीं है मौन होकर वाहर वैठो। रे मूढमते बृहस्पते ! यह इन्द्रकी सभा नहीं है, थोडा

बोलो। अरे नारद! स्तोत्रोंको धर दो। अरे तुम्बुरु! कथाकी बातोंकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि—मस्तक परकी सिन्दूरकी रेखारूप भालेसे विंधा है हृदय जिसका ऐसा लंकेश इस समय खिन्न है॥ ४५॥

अंगदः-(क्रोधं नाटयति)

स्फूर्जद्दिव्यास्त्रबाहुव्यतिकरविगलत्कंधरैस्तैः शिरोभि-
र्देवो रामः करिष्यत्युचितबलिमयं भूतसंघातशास्ता।
हन्यात्किं नांगदस्त्वामतिपरुषरुषा तातकक्षावशिष्टः
प्रोद्धृत्योद्धृत्यपादप्रहतबहुशिरःकन्दुकैः क्रीडितोऽस्मि॥४६॥

अंगद-(क्रोध करतेहुए) रे रावण! अतिक्रोधके कारण क्या अंगद तुझको अभी नहीं मारडालता? अवश्य ही तुझको समाप्त करदेता, परन्तु तीन कारणोंसे मैं तुझको क्षमा कररहा हूँ. एक तो यह कि—मेरे पिताकी बगलसे तू बचा है अर्थात् मेरे पिताकी दया करके छोडेहुए तुझको मैं मारडालूँ यह उचित नहीं है. दूसरे मैंने भी ऊपर नीचेको उछालकर बालकपनमें चरणोंसे ताडना कियेहुए तेरे शिर रूपी गैंदोंसे क्रीडा की है सो जिसको चरणोंसे ठुकराया है उसको क्या मारना? तथा अपने खिलौनेको तोडनेसे जगत्में अपकीर्ति होगी इस कारण मैं तुझको नहीं मारता हूं यदि कोई कहै कि स्वामीसे द्वेष करनेवालेको तो अवश्य ही मारडालना चाहिये तो तीसरा कारण यह है कि सकल प्राणियोंको शिक्षा देनेका जिनका स्वभाव है ऐसे देव रामचन्द्रजी जिसमें दमकते हुए दिव्य अस्त्र हैं ऐसे अपने भुजदण्डके कोपसे जिनकी कन्धरा कटगई हैं, ऐस तेरे शिरोंसे दिक्पालोंके निमित्त उचित बलिदान करेंगे॥ ४६॥

अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तरः।
तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोप्यस्ति राघवः॥ ४७॥

चार सौ कोस लम्बा एक तिमि नामक मच्छ है और उसको भी निगलनेवाला एक तिमिङ्गिल मत्स्य है श्रीरामचन्द्रजी तौ उसके भी कालरूप हैं॥ ४७॥

मूर्ध्नामुद्धृत्य कृत्ता विरलगलगलद्रक्तसंभूतधारा-
धौतेशांघ्रिप्रसादोपनतजयजगज्ज्ञातमिथ्यामहिम्नाम् ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धराणां
दोष्णां चैषामिदं ते फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः॥४८॥

शिरोंको उखाडने पर कटे और परस्पर मिलेहुए गलोंसे गिरीहुई वहुतसी रुधिर की धाराओंसे धोयेहुए शिवजीके चरणकी कृपासे मिली हुई जयसे जगत्में मिथ्याही जिनकी महिमा होगई है ऐसे शिरोंका यह कटना ही फल है और कैलासको उखाडनेकी कामनाके घमंडको जतानेवाले तथा चारों ओरको फैलानेवाले अभिमानसे प्रचण्ड इन तेरी वीस भुजाओंका भी यह वोझा उठाना ही फल है, इन मस्तकों और भुजाओंसे लंकाकी रक्षा करनेमें परिश्रममात्र है और कुछ फल नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

सीतां मुंच भजस्व रामचरणं राज्यं चिराद्भुज्यतां
देवाः सन्तु हविर्भुजः परिभवं मा यातु लंकापुरी ।
नोचेद्वानरवाहिनीपतिमहाचश्चचपेटोत्तरै-
स्तत्तन्मुष्टिभिरंगसंगरगतस्तत्तत्फलं लप्स्यसे ॥ ४९ ॥

इस कारण रे रावण ! श्रीजानकीजीको छोडदे, रामके चरणोंकी शरण ले, और चिरकालतक राज्यको भोग, देवता यज्ञमें हविका भक्षण करनेवाले हों तथा इस तुम्हारी लंका नगरीका तिरस्कार भी न हो नहीं तो हनुमान् आदि वानरसेनापतियोंके महा चपेटों के ऊपर ऊपर उछलते हुए उन मुक्कों से घोर संग्राम भूमिमें पहुँचा हुआ तू आजतक की हुई सकल अनीतियोंका फल पाजायगा ॥ ४९ ॥

दृष्टः किं रघुनन्दनो नहि पुरा किं च त्वया न श्रुतोऽ-
रण्ये किं न विलम्बितोसि न पुनर्मार्गे स्थितोसि क्षणम् ।

तल्लंकेश्वर मुंच मानमखिलं श्रुत्वा वधं वालिनः
सीतामर्पय रक्ष राक्षसकुलं दासत्वमङ्गीकुरु ॥ ५० ॥

क्या तूने पहिले कभी रामचन्द्रजीको देखा नहीं है? और क्या सुना भी नहीं है? वनमें तूने कुछ देर विलम्ब क्यों नहीं किया ? और मार्गमें कहीं तू क्षणभर भी क्यों नहीं टहरा ? इस कारण हे लंकेश ! तू वालीके वधको सुनकर अपने सब अहंकारको छोडदे, जानकी रामचन्द्रजीको अर्पण कर राक्षसकुलको बचा और रामचन्द्रजीके दासभावको स्वीकार कर ॥ ५० ॥

(क्षेपकः) रावणः—

मरुत्वद्दम्भोलिक्षणघटितघोरश्वयथुना
निसर्गोदग्रेण प्रसभमुरसा पीतगगनः ।
श्रियं देवद्रीचीं निजभुजवनोद्दामकरिणी-
मयं कुर्वन्वीरः स्मरसि कथमासीद्दशमुखः ॥ ५१ ॥

(रावण)—हे अंगद ! जिस समय देवताओंसे पूजित लक्ष्मीको बलात्कारसे अपने भुजारूपी वनमें मत्त हथिनीकी तुल्य करताहुआ अर्थात्—जैसे हथिनी किसी वनमें घुसती है तैसे लक्ष्मी मेरी भुजाओंमें प्रविष्ट हुई और स्वभावसे ही वडे हृदय करके आकाशको पीताहुआ मैं चला, उस समय इन्द्रने जो मेरे वज्र मारा तो उससे मेरे वक्षःस्थलमें एक सूझनमात्र होगई ऐसा मैं महापराक्रमी रावण कैसा था, यह तुझको स्मरण है ? ॥ ५१ ॥

आस्कन्धादपि कण्ठकाण्डविपिने द्राक् चन्द्रहासासिना
छेत्तुं प्रक्रमिते मयैव झटिति त्रुट्यच्छिरःसन्ततौ ।
अस्मेरं गलिताश्रुगद्गदवचो भग्नभ्रु वा यद्यभू-
द्वक्रेष्वेवमपि स्वयं स भगवाँस्तन्मे प्रमाणं शिवः ॥ ५२ ॥

शीघ्र ही चन्द्रहासनामक तलवार करके कन्धोंपर्यन्त कण्ठरूप वृक्षोंके गुद्दोंके वनको काटनेके निमित्त मेरे स्वयं ही प्रस्तुत होने पर यदि वह झट कटतेहुए शिरोंकी

पंक्तिमें मेरा कोई भी मुख हँसी रहित हुवा हो या आँसू गिरे हों, या गद्गद वाणी या टेढ़ी भौं हुई हो, तो इसमें स्वयं वह भगवान् शिव ही मेरे साक्षी हैं। अर्थात्-मैं ऐसा शूर हूँ कि शिवजीको शिर काटकर चढाने पर मेरे किसी भी मुखमेंसे आँसू नहीं निकला ॥ ९२ ॥

ये ऽहंपूर्विकया प्रहारमभजन्मां छिन्धि मां छिन्धि मां
छिन्धीत्युक्तिपराः पुरारिपुरतो लङ्कापतेर्मौलयः ।
ते भूमौ पतिताः पुनर्नवभवानालोक्य मूर्ध्नोऽपरा-
न्याचिष्यन्त इमे हि नो वयमिति प्रीत्याट्टहासं व्यधुः ॥९३॥

पहिले मुझे काटो, मुझे काटो, मुझे काटो इसप्रकार अहंपूर्विकासे कटनेको उद्यतहुए मेरे शिर त्रिपुरासुरके नाशकर्त्ता श्रीमहादेवजीके सामने पृथ्वीमें गिरे और फिर नूतन निकलतेहुए मस्तकोंको देखकर ये ही वर माँगेंगे हमें इच्छा नहीं ऐसा विचार कर प्रेमसे अट्टहास करनेलगे अर्थात्-मैं ऐसा साहसी हूँ ॥ ९३ ॥

मूले पंच ततश्चतुष्टयमिति स्रक्सन्निवेशैः शिरः-
पुष्पैरन्यतमावलोकनमितैरुच्छ्रोणितैरर्चति ।
हस्तस्पर्शवशेन मूर्ध्नि दशमं मूर्धानमालोकय-
ञ्छम्भोरद्भुतसाहसैकरसिकः कैर्न स्तुतो रावणः ॥ ९४ ॥

पांच मूलमें और फिर चार इसप्रकार मालामें स्थित उछलते हुए और शिरोंको देखनेके निमित्त नम्रीभूत शिरोरूप पुष्पोंसे पूजन करनेके समय माथेमें हाथका स्पर्श होनेपर दशवें माथेको देखता हुआ, साहस का एकमात्र रसिक रावण किससे स्तुति नहीं किया गया अर्थात् सबहीने मेरी स्तुति की है ॥ ९४ ॥

लंकेन्द्रः समधीरवीरपदवीरम्यो न गम्यो गिरां
तस्मिञ्जुह्वति चन्द्रहासशकलान्मौलीन् पुरारेः पुरः ।
भीत्या मन्दशिखोदयोऽपि दहनस्तैरेव तत्र क्षणं
प्राणार्थैश्च दिदृक्षया तनुतनुश्वासानिलैर्दीपितः ॥ ९५ ॥

साधारण धीरोंमें वीरोंकी पदवीकी इच्छावाला यह रावण वाणियोंका गम्य नहीं है, अर्थात् वाणीमात्रसे कोई रावणका पार नहीं पासकता, महादेवके सन्मुख चन्द्रहास खड्गसे कटे उस रावणके मस्तकोंको देखकर हवन करते समय भयके मारे अग्निकी लपट मन्दी पडगई फिर देखनेकी अभिलाषा करने वाले प्राणादिकों करके वहां क्षणमात्रको धीरे २ श्वासकी पवनों से वह अग्नि प्रदीप्त कियागया ॥ ९९ ॥

अगदः-(सावज्ञम्)

आस्तां मस्तकहोमविक्रमकथा पौलस्त्य विस्तारिणी
देहं किं न निपातयन्ति दहने वैधव्यभीताः स्त्रियः ।
कैलासोद्धरणेन भारवहनप्रौढिस्त्वयाविष्कृता
तूर्णं वर्णय किं च किंचिदपरं यत्पौरुषस्यास्पदम् ॥५६॥

(अंगद तिरस्कारके साथ)-रे रावण ! तेरे शिरोंके हवनके विस्तारवाली कहानी रही, क्या रँडापेके दुःखसे डरी हुई स्त्रियें अपने शरीरोंको अग्निमें भस्म नहीं करदेती हैं ? कैलासको उखाडनेसे तूने भारको उठानेकी प्रौढता प्रगटकी, अच्छा अब औरभी जो कुछ तेरे पराक्रमकी कथा हो उसको भी तू शीघ्रही कहडाल॥९६॥

दोर्दण्डाहितपौत्रभिक्षुरभवद्यस्मिन्पुलस्त्यो मुनि-
स्तद्बाहोर्वनमच्छिनत्परशुना यो राजबीजान्तकः ।
शौर्यं शौर्यरसाम्बुधेर्भृगुपतेर्ग्रासोऽपि नासीज्जलं
तत्तेजो वडवानलस्य किमसौ लंकापतिः पल्वलम् ॥ ५७ ॥

अपने पोतेके भुजदण्डोंको बन्धनसे छुडानेके लिये पुलस्त्य मुनि जिसके भिखारी हुए थे उस सहस्रबाहु अर्जुनकी भुजाओंकी वलको राजाओंके जडका नाश करनेवाले परशुरामजीने फरसेसे काटडाला, ऐसे वीररसके समुद्र परशुरामजी का शूरतारूप जल, वडवानलकी तुल्य रामचन्द्रके तेजका एक ग्रास भी नहीं होसका फिर यह छोटेसे सरोवरकी समान तू तो वस्तु ही क्याहै ? ॥ ९७ ॥

रे रे राक्षसराज मुंच सहसा देवीमिमां मैथिलीं
मिथ्या किं निजपौरुषस्य घटनाप्रागल्भ्यमारभ्यते ।
एनां पश्यसि किं न किन्नरगणैरुद्गीतदोर्विक्रमां
सेनां वानरभर्तुरुद्भटभुजस्तम्भाग्र्यभीमां पुरः ॥ ५८ ॥

अरे हे राक्षसराज ! इस मिथिलेशकुमारी जानकी देवीको तू शीघ्र छोडदे वृथा ही तू अपने पुरुषार्थकी वडाई क्यों गारहा है ? जिनकी भुजाओंके पराक्रमके गीत बनाकर किन्नर गाया करते हैं ऐसे वानरराज सुग्रीवके योधा वानरोंकी भुजाओंके मुख्यस्तम्भोंसे भयानक इन वानरोंकी सेनाको तू अपने सम्मुख क्या नहीं देखरहा है ? ॥ ५८ ॥

इति लंकाभटमुत्कटवाक्यैरधिक्षिप्य लंकामातंकयन्नंगदो निष्क्रान्तः॥
इति श्रीहनुमन्नाटकेऽङ्गदाधिक्षेपणं नामाष्टमोऽङ्कः ॥ ८ ॥

इस प्रकार लंकाके शूर वीर (रावण) को भयानक वचनोंसे ललकार कर लंका नगरीको भय देतेहुये अंगद चलेगये ॥

इति हनुमन्नाटके भाषाटीकायामङ्गदाधिक्षेपणं नामाष्टमोऽङ्कः समाप्तः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽङ्कः ।

अथ निजप्रतापप्रचण्डसमरोत्साहपरिपूर्णस्य लंकापतेः—

श्रुत्वा दाशरथिः सुवेलकटके साटोपमर्धे धनु-
ष्टंकारैः परिपूरयन्ति ककुभः प्रोच्छन्ति कौक्षेपकान् ।
अभ्यस्यन्ति तथैव चित्रफलकैर्लंकापतेस्तत्पुन-
र्वैदेहीकुचपत्रवल्लिरचनावैधर्म्यमर्धे कराः ॥ १ ॥

इसके अनन्तर अपने प्रतापकी प्रचण्डतासे वढेहुए संग्रामके उत्साहसे परिपूर्ण लंकाधिपति रावणकी आधी अर्थात् दशभुजाएँ रामचन्द्रको सुवेल पर्वतके ऊपर

सेनाके पडावके साथ स्थितहुए सुनकर धनुषकी टंकारोंसे दिशाओंको व्याप्त करती हैं और शेष रहीं दश भुजा उसी प्रकार चित्र बनानेके फलकोंके द्वारा जानकीजीके कुचपत्रों पर वेलोंकी रचनाका अभ्यास करती हैं ॥ १ ॥

(ततो निजराजमन्दिरशिखरस्थमञ्चमारुह्य रावण)

फिर रावण अपने राजमहलके शिखर पर बिछेहुए सिंहासनके ऊपर चढकर—

लंकायां कृतवानयं हि विकृतिं दग्धाग्रपुच्छः पुरा
कोप्येष प्रतिभाति वालिसदृशो नूनं तदीयः सुतः ।
श्यामः कामसमाकृतिः शरधनुर्धारी स सीताप्रियः
प्रत्येकं रिपुमीक्षतीति निगदन्मंचस्थितो रावणः ॥ २ ॥

पूँछका अग्रभाग जलने पर इसने ही पहिले लंकामें आग लगादी थी, यह कोई वानर वालीकी समान शोभा पारहा है । ओहो ! मैंने जानलिया यह निःसन्देह वालीका वेटा ही है और वह धनुष वाण धारण किये कामदेवकी समान आकार-वाला श्यामशरीर सीताका प्यारा है, इसप्रकार प्रत्येक शत्रुके विषयमें कहताहुआ रावण सिंहासन पर वैठा ही देखनेलगा ॥ २ ॥

तत्र मन्दोदरी—

दृष्ट्वा राघवमेव राक्षसवनस्वच्छन्ददावानलं
जानक्यां निजवल्लभस्य परमं प्रेमाणमालोक्य च ।
कांक्षन्ती मुहुरात्मपक्षविजयं भंगं च मुग्धा मुहु-
र्धावन्ती मुहुरन्तरालपतिता मन्दोदरी सुन्दरी ॥ ३ ॥

उस समय मन्दोदरी—राक्षसरूप वनके निमित्त स्वच्छन्द अग्निकी तुल्य भगवान् रामचन्द्रको देखकर और जानकीमें अपने पतिके परमप्रेमको भी देखकर वारंवार अपने ही पक्षके विजयकी इच्छा करतीहुई अनजान मन्दोदरी आनन्दमें

भरकर कभी घरमें और कभी रावणके समीप दौडकर जातीहुई बीच में ही गिरगई ॥ ३ ॥

वन्दारुवृन्दारकवृन्दवन्दिमन्दारमालामकरन्दविन्दून् ।
मन्दोदरीयं चरणारविन्दरेणूत्करान्कर्करतामनैषीत् ॥ ४ ॥

इस मन्दोदरीने प्रणाम करनेवाले देवगणोंकी रोकीहुई स्त्रियोंके गलोंकी कल्पवृक्षके फूलोंकी मालाओंके परागके कण जिनमें लगेहैं ऐसे अपने चरण कमलोंके रेणुओंके कणोंको किरकिरा करादिया ॥ ४ ॥

मन्दोदरी अञ्जलिं बद्ध्वा रावणं वैरिविद्रावणं विज्ञापयति—देव !

हाथ जोड कर शत्रुओंका नाश करनेवाले रावणसे मन्दोदरी प्रार्थना करती है—कि—हे नाथ !—

त्वं बाहूद्धृतचन्द्रशेखरगिरिर्भ्राता जगद्भक्षकः
पुत्रः शक्रजयीत्यवेत्य रणधीर्नूनं बली वालिजित् ।
तद्राजन्नबला बलादपहृता देयास्य सा जानकी
लंकायां रहसीत्युवाच वचनं मन्दोदरी मन्दिरे ॥ ५ ॥

मन्दोदरी लंकाके एकान्त स्थानमें रावणसे यह वाक्य कहनेलगी कि—महाराज ! यह ठीक है कि तुम बाहुओंसे चन्द्रभाल महादेवके कैलासपर्वतको उठानेवाले हो, तुम्हारा भाई कुम्भकर्ण जगत्को भक्षण करनेवाला है और आपका पुत्र मेघनाद भी इन्द्रविजयी है तथापि जीतनेवाला रामभी संग्राममें बडा धैर्यधारी है हे नाथ ! आपको ऐसा जानकर वह बलात्कारसे हरण करके लाईहुई अबला जानकी इनको देदेना उचित है ॥ ५ ॥

रावणः—(निजभुजाडम्बरं नाटयति)

किं ते भीरु भिया निशाचरपतेर्नासौ रिपुर्मे महान्
यस्याग्रे समरोद्यतस्य न सुरास्तिष्ठन्ति शक्रादयः ।

मद्दोर्दण्डकमंडलोद्धृतधनुःक्षिप्ताः क्षणान्मार्गणाः
प्राणानस्य तपस्विनः सति रणे नेष्यंति पश्याधुना ॥ ६ ॥

(रावण अपनी भुजाओंके वलका बखान करता है) अरी डरपोक ! तेरे डर से क्या है ? समर करनेको उद्यत हुए जिसके सामने इन्द्रादिक देवता खडे नहीं रहते हैं, ऐसे मुझ राक्षसराज रावणका कोई यह बडाभारी शत्रु नहीं है, तू अभी देखना, संग्राम होनेपर मेरे भुजदण्डोंके समूह करके चढाये हुए धनुषसे छूटने वाले वाण एक क्षणमें ही इस तपस्वी रामके प्राणोंको लेलेंगे ॥

दूसरा अर्थ–इसमें रावणका छिपा हुआ यह अभिप्राय है कि–हे डरपोक ! मेरे भयसे क्या है क्योंकि–जिनके समरमें उद्यत होनेपर इन्द्रादिक देवताभी स्थित नहीं होते हैं, ऐसे यह पुरुष मेरे वडे भारी वैरीहैं तू देखना रणके होनेपर इन तपस्वियोंके बाहुदण्डोंके समूह करके चढाये धनुषसे छूटे बाण क्षणमात्रमें मेरे प्राणोंको हरलेंगे ॥ ६ ॥

मन्दोदरी–(सभयं रावणोदितपद्यार्थमपश्यन्ती भाविना
द्वितीयं पद्यार्थमवगम्य) अहो प्राणनाथ ! लंकेश्वर !
किमिति स्वकपोलकल्पितैरमंगलालापैरात्मनो वधं
मन्यसे ? शान्तं पापं प्रतिहतममंगलमिति वैचित्र्यमुत्पाद्य ।

मन्दोदरी भयभीत होकर रावणके कहे श्लोकके अर्थको न देखती हुई भावीके कारण रावणके नाशरूप श्लोकके दूसेर ही अर्थको समझकर कहने लगी कि--अहो प्राणनाथ ! लंकेश्वर ! क्यों अपने आपही इसप्रकार अमंगल वाक्योंसे अपना नाश मानरहे हो पाप शान्तिको प्राप्त हो, विघ्नकी गति रुकै. ऐसी विचित्रताको उत्पन्न करके ॥

एकः सुग्रीवभृत्यः कपिरखिलवनं पत्तनं चापि दग्ध्वा
यातस्तूष्णीं तदानीं दशमुख भवतः किं कृतं वीरवर्गैः ॥
प्राप्तोऽसौ पत्तनांतं सकलकपिवलैर्वार्धिमुल्लङ्घ्य योद्धुं
त्वं सीतां मुंचमुंचेत्यनिशमकथयत्प्रेयसी रावणस्य ॥ ७ ॥

एक सुग्रीवका सेवक वानरही समस्त वाटिकाको उजाड और नगरको जलाकर चुपचाप लौटगया, उस समय हे दशानन! आपके वीर गणोंने क्या किया? और अब तौ समस्त वानरोंकी सेनाको लेकर यह राम सागरके पार होकर तुमसे युद्ध करनेके निमित्त नगरके समीपमें ही आगया इसकारण तुम सीताको छोडदो, छोडदो, इस प्रकार रावणकी प्यारी मन्दोदरीने वार २ कहा ॥ ७ ॥

(मन्दोदरीकथनेन किंचित्सभयो रावणः)

शुकं च सारणं वीरं दूतं प्रस्थाप्य रावणः ।
रामदेवस्य शिबिरं मंत्रं चक्रेऽथ मंत्रिभिः ॥ ८ ॥

मन्दोदरीके कहनेसे कुछ भयभीत हुआ रावण शुक और सारण नामक दो वीरोंको दूत बनाकर रामचन्द्रजीके लश्करमें भेज मंत्रियोंके साथ सम्मति करने लगा ॥ ८ ॥

तत्र विरूपाक्षनामा मन्त्री-(सहितम्)

देव त्वां प्रति संप्रति प्रतिभटप्रोल्लासनं नो मुदे
देवायं प्रतिपद्यते हितमिदं यस्माद्वयं मंत्रिणः ।
सीतारक्षणदक्षलक्ष्मणधनुर्लेखापि नोल्लंघिता
हेलोल्लंघितवारिधिः कपिकुलैः सार्धं स रामो महान् ॥ ९ ॥

उस समय विरूपाक्षनामक मन्त्री हितके साथ कहने लगा कि,-हे देव! इस समय शत्रुपक्षको अपने साथ लडाईके निमित्त उकसाना आपको आनन्ददायक नहीं होगा। हमलोग आपके मन्त्री हैं, इसकारण हितकी ही कहते हैं। क्योंकि-जब सीताजीकी रक्षा करनेमें चतुर लक्ष्मणजीके धनुपकी रेखाभी आपसे नहीं लाँघी गई तौ फिर वानरोंके झुंडोंके साथ बातकी बातमें ही समुद्रको उल्लंघन करनेवाले वह रामचन्द्रजी तौ बहुत ही बडे हैं ॥ ९ ॥

यावद्दाशरथेर्न पश्यसि मुखं यावन्न पाथोनिधिं
बद्धं यावदिमां न पावकवशां लंकां निरस्तालकाम् ।

यावन्नैव निजानुजं सुचरितं यातं कुलाङ्गारतां
तावद्रावण लोकपाल तरसा सीतां प्रयच्छानघाम् ॥१०॥

हे रावण ! प्रथम तौ जबतक यह लंका भस्म होकर राक्षसियोंसे रहित नहीं हुई थी तब तक ही तुमको सीता लौटा देनी थी, इसके अनन्तर भी समुद्रका पुल बँधनेसे पहिले ही लौटा देनी थी यहभी नहीं होसका तो अब जबतक तुम दशरथ-नन्दन रामचन्द्रजीका मुख नहीं देखते हो और जबतक तुम्हारा भाई विभीषण कुलकी कलंकताको नहीं लेता है हे लोकपाल ! तबतक इस पापरहित जानकीको आप शीघ्रही लौटादीजिये ॥ १० ॥

रावणः-(साश्चर्यम्)

एते ते मम बाहवः सुरपतेर्दोर्दण्डकण्डूहराः
सोहं सर्वजगत्पराभवकरो लंकेश्वरो रावणः ।
सेतुं बद्धमिमं शृणोमि कपिभिः पश्यामि लंकां वृतां
जीवद्भिर्नहि दृश्यते किमथवा किं वा न वा श्रूयते ॥११॥

(रावण आश्चर्यमें होकर) यह मेरी भुजाएं इन्द्रके भुजदण्डोंकी खुजलीको मिटाने वाली हैं ऐसा समस्त जगत्का तिरस्कार करनेवाला लंकाका स्वामी मैं रावण बन्दरों करके समुद्रके पुलको बांधाहुआ सुनूं और इस लंकाको घेरीहुई देखूं-यह जीतेजी तौ देखा या सुना नहीं जायगा अर्थात् मेरे जीते हुये वानर लंकाको घेर नहीं सक्ते ॥ ११ ॥

विरूपाक्षः-राजन्विषादं मागाः पश्य-

आज्ञा शक्रशिरोमणिप्रणयिनी[1] शस्त्रग्रहाणामपि
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लंकेति दिव्या पुरी ।
संभूतिर्द्रुहिणान्वये[2] च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनस्त्वेकत्र[3] सर्वे गुणाः ॥१२॥

---

१ आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं । २ उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते । ३ सर्वत्र सर्वगुणाः इति च पाठान्तरम् ।

(विरूपाक्ष कहने लगा कि हे राजन्! खिन्न न हूजिये देखिये) आपकी आज्ञाको शस्त्रधारी इन्द्रादिक भी अपने शिरपर मणिकी समान आदरके साथ धारण करते हैं, पिनाकपाणि श्रीभूतनाथ शिवके चरणोंमें आपकी भक्ति है, लंकासी दिव्य नगरी रहनेका स्थान, ब्रह्मवंशसे आपकी उत्पत्ति है, ओहो! ऐसे वरदान भी कोई नहीं पासकता और यदि किसीमें यह सकल गुण हो भी जाँय तो वह रावण नहीं होगा सार यह है कि—यह सब गुण आपके अतिरिक्त और किसीमें नहीं होंगे ॥ १२ ॥

रावणः—(धैर्यमवलम्ब्य)

मतिर्विपश्चितां मन्त्री रतिर्मन्त्री विलासिनाम् ।
पराक्रमैकसाराणां मानिनां त्वसिवल्लरी ॥ १३ ॥

(रावण धीरज धरकर) विद्वानोंका मंत्री बुद्धि होती है, कामियोंका मंत्री रति होती है और केवल पराक्रमका ही भरोसा रखनेवाले मानी मनुष्योंकी तो तलवाररूप लता ही मंत्री है ॥ १३ ॥

अथ महोदरो नाम मंत्री—

राजन्मुखसुखा वाचो मधुराः कस्य न प्रियाः ।
तव क्षोदक्षमाः किन्तु नैता व्यसनसंगमे ॥ १४ ॥

(इसके उपरान्त महोदरनामक मंत्रीने कहा कि—) हे राजन्! प्रारम्भमें ही अथवा मुखसे कहनेमात्रमें सुख देनेवाली मीठी बातें किसको प्यारी नहीं लगतीं? अर्थात् मीठे वाक्य सबको ही अच्छे मालूम होते हैं परन्तु दुःख आने पर यह बातें आपके दुःखको दूर नहीं करसकेंगी ॥ १४ ॥

प्रिया वा मधुरा वाक् च हर्म्येष्वेव विराजते ।
श्रीरक्षणे प्रमाणन्तु वाचः सुनयकर्कशाः ॥ १५ ॥

प्यारी और मीठी बात महलोंमें ही विराजती है और लक्ष्मीकी रक्षा करनेमें तो सुन्दर नीति संयुक्त कठोर वाणी ही काम देती है ॥ १५ ॥

विभवे भोजने दाने तिष्ठन्ति प्रियवादिनः ।
विपत्तौ चागतेऽन्यत्र दृश्यन्ते खलु साधवः ॥ १६ ॥

प्यारी वातें बनानेवाले केवल ऐश्वर्य, भोजन और दानके समय ही समीप रहते हैं, और आपत्ति आने पर तौ वह प्रियवक्ता अन्यत्र चलेजाते हैं और साधु ही समीप दीखते हैं ॥ १६ ॥

अग्रे प्रस्तुतनाशानां मूकता परमो गुणः ।
तथापि प्रभुभक्तानां मौखर्यादिदमुच्यते ॥ १७ ॥

जिनका विनाशकाल सामने ही प्रस्तुत है उनके विषयमें चुप रहना ही परम गुण है तथापि हम प्रभुभक्त हैं, इस कारण धृष्ट होकर यह कहते हैं, कि- ॥ १७ ॥

यैरेव स्तुतिभिः स्वामी प्राप्यते व्यसनाटवीम् ।
पश्चान्मूकत्वमापन्नैरुद्धर्तुं शक्यते कथम् ॥ १८ ॥

जो मिथ्या प्रशंसा करनेवाले मंत्री स्वामीको दुःखोंके वनमें डालदेते हैं, और पीछे से मौन हो वैठते हैं उन मंत्रियेंसे स्वामीका उद्धार कैसे होसकता है ? अर्थात् कभी नहीं होसकता ॥ १८ ॥

नद्यश्च खलमैत्री च लक्ष्मीश्च नियतिर्द्विषाम् ।
सुकुमाराश्च वनिता राजन्नस्थिरयौवनाः ॥ १९ ॥

हे राजन् ! नदियें, खोटे पुरुषोंकी मित्रता, लक्ष्मी और शत्रुओंका प्रारब्ध तथा कोमलाङ्गी स्त्रियोंका यौवन सदा स्थिर नहीं रहता है ॥ १९ ॥

दत्तोत्साहैरकार्येऽपि चित्तग्रहणकोविदैः ।
सत्यं विदग्धैर्भुज्यन्ते नृपाः कर्णान्तषट्पदैः ॥ २० ॥

अकार्यमें भी उत्साह देनेवाले चित्तको हरण करनेमें चतुर कानोंके समीप मुख लगाकर भौंरोंकी झंकारकी समान मीठी वातें बनानेवाले चतुर पुरुषों करके राजा लोग भोगेजाते हैं यह सत्य है ॥ २० ॥

पद्मिनी कान्तिमापेदे संकोचं च कुमुद्वती ।
न भवन्ति चिरं प्रायः सम्पदो विपदोऽपि वा ॥ २१ ॥

कमलिनीने कान्ति पाई और कुमुदिनी मुँदगई ऐसे ही प्रायः सम्पत्ति या विपत्ति चिरकालपर्यन्त नहीं रहती हैं ॥ २१ ॥

तथा च–

सुरेज्यादिभिराचार्य्यैर्नीतिशास्त्रं त्रिधा मतम् ।
ऐहिकं चामुष्मिकाख्यमैहिकामुष्मिकं तथा ॥ २२ ॥

इसी कारण बृहस्पति आदि आचार्य्योंने इस लोकमें सुखका देनेवाला और परलोकमें सुखका देनेवाला तथा इस लोक और परलोक दोनोंमें सुखका देनेवाला यह तीन प्रकारका नीतिशास्त्र माना है ॥ २२ ॥

ऐहिकामुष्मिकं तत्र शास्त्राणामुत्तमोत्तमम् ।
आमुष्मिकं तूत्तमं स्यादैहिकं चाधमाधमम् ॥ २३ ॥

इन तीनोंमेंसे इस लोकमें और परलोकमें भी सुखका दाता नीतिशास्त्र सब शास्त्रोंमें परमोत्तम है, तथा परलोकमें सुख देनेवाला नीतिशास्त्र भी उत्तम ही है परन्तु केवल इस लोकमें ही सुखका दाता नीतिशास्त्र नीचसे भी नीच है ॥ २३ ॥

यज्ज्ञानात्स्वामिनं हत्वा भजन्ते मंत्रिणः प्रियम् ।
विषशस्त्रादिभिः शास्त्रं तदैहिकमिति स्मृतम् ॥ २४ ॥

जिसके ज्ञानसे मन्त्री जन विष और शस्त्रादिकों करके स्वामीको मारकर अपने प्रिय राज्यको भोगते हैं इस लोकमें सुख देनेहारा वह नीतिशास्त्र ऐहिक कहाता है ॥ २४ ॥

तुल्यः सूर्यद्विजवधैराज्ञाभंगो महीभुजाम् ।
यद्वधे यद्भवेत्पापं न शेषो वक्तुमर्हति ॥ २५ ॥

राजाओंकी आज्ञाका भंग करना तो वेदमार्ग और ब्राह्मणोंके वध करनेकी समान है । इस ही कारण विष आदिसे राजाओंको मारनेमें जो पाप होता है उसको सहस्रमुख शेष भी नहीं कहसक्ते ॥ २५ ॥

अपराधं विना मन्त्री प्रभुणा पीडितोऽपि सन् ।
न वैरूप्यं क्वचिद्याति तदामुष्मिकमुच्यते ॥ २६ ॥

विना ही अपराधके स्वामीसे पीडित हुवा भी जो मंत्री कभी विकार नहीं लाता उसको शिक्षा देनेवाला परलोकमें सुखदायक नीतिशास्त्र आमुष्मिक कहाता है॥२६॥

राज्यग्रहणशक्तोऽपि मनसापि न चिन्तयेत् ।
सचिवः स्वामिनो नाशमैहिकामुष्मिकं हि तत् ॥ २७ ॥

राज्यको छीनलेनेमें समर्थ भी जो मंत्री मनसे भी स्वामीके नाशका विचार न करै उसको शिक्षा देनेवाला नीतिशास्त्र इस लोकमें और परलोकमें भी सुखदायी ऐहिकामुष्मिक नीतिशास्त्र कहाता है॥ २७ ॥

शुकश्च सारणो वीरश्चैहिकौ मंत्रिणौ तव ।
वानरीं तनुमास्थाय हतौ तत्र स्थितावपि ॥ २८ ॥

वीर शुक और सारण यह दोनों मन्त्री ऐहिक नीतिके धारण करने वाले हैं । क्योंकि–जो वानरोंके शरीरको धरकर गएहुए रामचन्द्रजीकी सेनामें अवतक स्थित हैं ॥ २८ ॥

आवामामुष्मिकौ राजन्विरूपाक्षमहोदरौ ।
मैथिली दीयतां तूर्णं नो चेत् सहचरौ तव ॥ २९ ॥

हे राजन् ! विरूपाक्ष और महोदर हम दोनों आपको परलोकमें सुख देनेवाले हैं हमारी सम्मति तौ यह है कि--आप जानकीको शीघ्र देदीजिये नहीं तो हम दोनों तो आपके अनुचर हैं ही अर्थात्--कल्याण तौ आपका जानकीके देनेमें ही है और यदि आप न भी देंगे तौभी हमतौ आपके अनुचर रहेंगे ही इस विपत्तिमें आपका साथ कदापि नहीं छोडेंगे ॥ २९ ॥

रावणः–

(सभयं सशिरःकम्पं स्वगतं वा स्वगतमेवोच्यते)

नीतिशास्त्रमिदं श्रुत्वा कुम्भकर्णः क्वचिद्बली ।
हन्तिं चेन्मामतो युद्धे प्रथमं प्रेष्यतामयम् ॥ ३० ॥

रावण--(डरसे मस्तकोंको हिलाता हुआ मनमें ही विचारनेलगा और मनमें ही कहने भी लगा कि) कहीं बलवान् कुम्भकर्ण इसनीतिशास्त्रको सुनकर मुझको ही न मारडाले, इसकारण पहिले उसको ही युद्धमें भेजना चाहिये ॥ ३० ॥

विरूपाक्षमहोदरौ-(प्रभोः शिरःकम्पनादन्तर्गतमभिप्रायमवगम्य)

नीतिशास्त्रविदो धर्मं केवलं नृपतेः पुरः ।
पठन्ति युवराजादिपुरतो न कदाचन ॥ ३१ ॥

(विरूपाक्ष और महोदर रावणके शिरोंके हिलनेसे चित्तका अभिप्राय समझकर कहने लगे कि) नीतिशास्त्रके ज्ञाता मंत्री केवल राजाके ही सामने राजधर्मका वर्णन करते हैं और युवराज आदिके सन्मुख कभी नहीं कहते ॥ ३१ ॥

हा नाथ लंकेश्वर ! किमित्यावयोः श्रद्धाधिकारिणोवैरूप्यशंकामंकुरयसि तेऽन्ये दुरधिकारिणः पापाः ॥

हा नाथ लंकाधिपते ! क्या तुम श्रद्धाके अधिकारी हम दोनोंके विपरीत होनेकी मनमें शंका करते हो ऐसा करने वाले दुष्ट सेवक औरही पापी होते हैं ॥

उक्तञ्च-

न सर्पस्य मुखे रक्तं न दुष्टस्य कलेवरे ।
न प्रजासु न भूपाले धनं दुरधिकारिणि ॥ ३२ ॥

क्रोधके समय सर्पके मुँहमें रुधिर नहीं होता है और दुष्टके शरीरमें रुधिर नहीं होता है तथा क्रोधी दुष्ट अधिकारी राजाके होनेपर प्रजाओंमें धन नहीं रहता है ॥ ३२ ॥

तेऽप्यधिकारिणः पापा ये द्विषन्ति निजं पतिम् ।
आवां तथा विधौ नैव भवानपि न मूढधीः ॥ ३३ ॥

जो अपने स्वामीसे ही द्वेष करते हैं वह अधिकारी भी पापी होते हैं सो हम दोनों तैसे नहीं हैं तथा आप भी मन्दबुद्धि नहीं हैं जो हमको न जानते हो ॥ ३३ ॥

नियुक्तहस्तार्पितराज्यभारास्तिष्ठन्ति ये स्वैरविहारसाराः ।
बिडालवृन्दाहितदुग्धमुद्राःस्वपन्तितेमूढधियःक्षितीन्द्राः ॥ ३४ ॥

जो राजे भृत्योंके हाथमें राज्यका भार सौंपकर स्वच्छन्द विहारको ही अपना कर्त्तव्य मान वैठते हैं वह मन्दबुद्धि मानो बिलावोंके समूहमें दूधका पात्र रखकर सोते हैं अर्थात् जैसे बिडालोंमें दुग्धके पात्रको धरकर सोतेहुए प्राणीका दूध नष्ट होजाता है तैसे हीं नियुक्त मनुष्योंके हस्तमें छोडाहुआ राज्य भी नष्ट होजाता है ॥ ३४ ॥

अपि च-

उत्खातान्प्रतिरोपयन्कुसुमिताँश्चिन्वँल्लघून्वर्धयन्
क्षुद्रान्कण्टकिनो बहिर्निरसयन्विश्लेषयन्संहतान् ।
अत्युच्चान्नमयन्नताँश्च शनकैरुन्नामयन्भूतले
मालाकार इव प्रयोगचतुरो राजा चिरं नन्दते ॥ ३५ ॥

(और भी सुनिये) जैसे बाग लगानेमें चतुर माली उखाडेहुए पेडोंको फिरसे प्रस्थापित करता है, फूले हुओंसे फूल इकट्ठे करता है, छोटे छोटोंको बढाता है काँटेवालों को छोटे २ ही बाहर निकाल देता है, मिलेहुओंको पृथक् २ करदेता है और बडे ऊँचोंको काट छाँटकर नीचा करता है और नीचोंको धीरे २ ऊँचा करता है, तो चिरकालतक उस बागका आनन्द भोगता है तिसीप्रकार राजकार्य करनेमें चतुर राजा, स्थानहीन हुए अधिकारियोंको दूसरे स्थानपर नियत करता है, पुष्पित हुए अर्थात् धनीहुए पुरुषोंसे कर लेताहुआ, छोटोंको उन्नति देता, प्रजाको दुःख देनेवाले क्षुद्र पुरुषोंको अधिकारसे अलग करता, आपसमें मिलेहुए अधिकारियोंको अलग २ करताहुआ तथा अतिऊँचे पदपर पहुँच कर दुष्टता करनेवाले अधिकारियोंको अपने वशीभूत नीचे करताहुआ चिरकाल पर्यन्त भूतल पर राज्यका आनन्द भोगता है ॥ ३५ ॥

राजन्कार्यवशाद्विरुद्धसंग्रहोऽपि राज्ञा शुद्धेनाशुद्ध-
संग्रहः प्रयोजनहीनोऽपि कर्तव्यः । प्रयोजनं जनयति
क्वचित्काले । अत्र भगवान् भवतामिष्टः प्रमाणमेणाङ्कमौलिः ॥

हे राजन् ! शुद्ध राजाको भी कार्यवश विरुद्ध और प्रयोजनरहित अशुद्ध सेवकका भी संग्रह करना योग्य है क्योंकि–वह भी कभी न कभी प्रयोजन सिद्ध कर ही देता है । इस विषयमें आपके इष्टदेव भगवान् चन्द्रशेखर शिव ही साक्षी हैं ॥

जीर्णेप्युत्कटकालकूटकवले प्लुष्टे हठान्मन्मथे
नीते भासुरभालनेत्रतनुतां कल्पान्तदावानलैः ।
यः शक्त्या समलंकृतोऽपि शशिनं शैलात्मजां स्वर्धुनीं
धत्ते कौतुकराजनीतिनिपुणः पायात्स वः शंकरः ॥ ३६ ॥

बडे पुराने उत्कट हालाहल विषके पीने पर हठसे कामदेवके भस्म होने पर और कल्पान्तकी अग्नियोंके द्वारा दमकते माथेमेंके नेत्रकी सूक्ष्मताको प्राप्त होने पर प्रयोजन न होतेहुए भी अपनी शक्तिसे ही शोभायमान जो चन्द्रमा हिमाचल नंदिनी पार्वती और गंगाको धारण करते हैं वह कौतुककी राजनीतिमें कुशल शंकर आपकी रक्षा करैं ॥ ३६ ॥

दिग्वासा यदि तत्किमस्य धनुषा शस्त्रं च किं भस्मना
भस्माथास्य किमङ्गना यदि च सा कामं परं द्वेष्टि किम् ।
इत्यन्योऽन्यविरोधिकर्मनिरतं पश्यन्निजं स्वामिनं
भृङ्गी सान्द्रशिरावनद्धशकलं धत्तेऽस्थिशेषं वपुः ॥ ३७ ॥

यदि इन भगवान् शिवके दिशा ही वस्त्र हैं तो इनको धनुषसे क्या काम है ? यदि शस्त्र ही है तो विभूतिसे क्या प्रयोजन है ? यदि भस्म ही मली तो फिर इनको स्त्रीसे क्या प्रयोजन है ? और जो स्त्री भी है तो फिर यह कामदेवसे इतना भारी वैर क्यों करते हैं ? इस प्रकार एक दूसरेसे परस्पर विरोधका काम करनेमें तत्पर अपने स्वामीको देखताहुआ भृंगी सघन नाडियों करकै चारों ओरसे बँधे हैं हाथ पैर आदि अंग जिसके और केवल हड्डियें ही जिसमें शेष रही हैं ऐसे निष्प्रयोजन शरीरको धारण करते हैं ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणं मंत्रिणं द्रोणं शुद्धं वीरं भविष्यति ।
गुरुं दुर्योधनस्त्यक्त्वा यथा त्वं मा तथा भव ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार ब्राह्मणशरीर, शुद्ध, वीर और मंत्रके देनेवाले अपने गुरु द्रोणाचार्यको छोडकर दुर्य्योधन होगा, उस प्रकारके आप न हूजिये ॥ ३८ ॥

अत्रान्तरे मन्दोदरी रावणेन सह खेलमाना स्मरस्मेर वाणीविलासलीलया अशोकवनिकामागम्य जानकी-स्थानमाक्रम्योपविश्याह ॥

इसी अवसरमें रावणके साथ खेलतीहुई मन्दोदरी कामोद्दीपक मुसकुरानमय वातें और विलासकी लीलाके द्वारा अशोकवाटिकामें आ, जानकीके स्थानको घेरकर वैठके वोली कि ॥

प्राणनाथ लंकेश्वर पश्य–
मन्दोदरीजनकजाङ्गमनोहरत्वे
भेदोस्ति कोपि यदि नाथ विचारय त्वम् ॥

हे प्राणनाथ लंकाधिपते ! देखो तो मुझ मन्दोदरी और सीताकी मनोहरतामें क्या कोई भेद है ? हे नाथ ! इस कारण आप विचारें तो करिये ॥

रावणः–

मैनः प्रिये परिमलस्तव भेदमाख्या-
त्यङ्गे विदेहदुहितुः सरसीरुहाणाम् ॥ ३९ ॥

रावण–हे प्रिये ! तुम्हारे अंगमें तौ मछलीकीसी गन्ध है और जनकनन्दिनी सीताके देहमें कमलोंकीसी सुगन्धि ही भेदको वतलाती है ॥ ३९ ॥

रूपे तवास्याश्च न कोपि भेदः खेदं प्रिये मद्वचनेन मागाः ।
सीताधरे वा मधुरे दशास्यो रामो रमिष्यत्यथ वाथ सद्यः ॥४०॥

हे प्रिये ! तुम्हारे और इसके रूपमें कोई भी भेद नहीं है इसकारण तू मेरे वचनसे दुःखित न हो सीताके मधुर अधरमें या तो रामचद्र ही रमण करेंगे या शीघ्र ही यह दशमुख रावण रमण करैगा ॥ ४० ॥

मन्दोदरी—

(सकरुणा लंकामधिक्षिपति)

विभीषणः पापकथानिमग्नः स्वापाकुलोभूयदि कुम्भकर्णः ।
राजाभिमानी पतितः कलंके लंके निमग्नासि गभीरपंके ॥ ४१ ॥

इति निष्क्रान्ताः सर्वे ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके मन्त्रिवाक्यं नाम नवमोऽङ्कः ॥ ९ ॥

(मन्दोदरी करुणाके साथ लंकाके ऊपर आक्षेप करती है ॥)

विभीषण तो पापकी कथाओंमें निमग्न हो ही गया और कुंभकर्ण पहिलेसे ही निद्राके वशमें हैं और राज्यका अभिमानी रावण कलंकमें डूबगया इस कारण हे लंके ! अब तू गहरी दलदलमें फँसगई ॥ ४१ ॥

इस प्रकार कहकर सब चलेगये ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके भाषाटीकायां मन्त्रिवाक्यं नाम नवमोऽङ्कः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽङ्कः ।

ततः सुन्दरं मन्दिरं प्रविश्य रावणः सानुचरः-
भो भो लंकेश्वरानुजीविनो जनाः शृणुत अहमिदानीं माया-
प्रपंचरचनाभिर्जानकीमृदुसुरभिस्फीतदोर्मूललालित्य-
विराजमानपीनोन्नतकुचकलशोपशोभितोरःस्थले खेलमान-
स्तन्मधुराधरं पास्यामि ॥

इसके अनन्तर सुन्दर मन्दिरमें जाकर सेवकों सहित रावण--

अरे रे ! रावणके सहारेसे जीवन धारण करने वाले प्राणियों ! तुम सुनो मैं आज जानकीके कोमल और सुगन्धियुत सुवर्णकी समान कान्तिवाले भुजमूल तथा

मनोहरतासे विराजमान पुष्ट और ऊँचे कुचकलशोंसे शोभित हृदयमें माया और छल करके क्रीडा करता हुआ उस सीताके मधुर अधरका पान करूंगा ।

मायाविनोऽनुचराः—यद्रोचते देवस्य ।

मायावी सेवक--जो प्रभुको अच्छा लगै ॥

(रावणः)

अथ रजनिचरेशो रामसौमित्रिमाया-
विरचितशिरसी तद्रूपलावण्यपूर्णे ।
गलदविरलरक्के प्रेतपर्य्यस्तनेत्रे
जनकदुहितुरग्रे स्थापयामास पापः ॥ १ ॥

(रावण) इसके अनन्तर उस पापी राक्षसपति रावणने मायाके द्वारा बनायेहुए वैसे ही सुन्दरतासे परिपूर्ण निरन्तर रुधिरकी वर्षा करते हुए प्राणहीन होजानेके कारण मुँदेनेत्रोंवाले रामचन्द्र और लक्ष्मणके शिरको सीताके सामने रख दिये ॥ १ ॥

(जानकी)

सबाष्पं, शिरःसरसीरुहद्वयमालोकयति-
अहह जनकपुत्री फुल्लराजीवनेत्री
नयनसलिलधारागर्भनिर्मुक्तहारा ।
रमणमरणभीता मृत्युना किं न नीता
हृदयदहनजालः संदहेद्वा विशालः ॥ २ ॥

(जानकी) नेत्रोंमें आँसू भरकर दोनों कमल समान शिरोंको देखनेलगी—बडे शोककी बात है कि--खिले हुए कमलकी समान आंखों वाली नेत्रोंके जलकी धाराके भीतर हारको त्यागने वाली अर्थात् जिसकी आँखोंके आंसू हारकी समान टूट कर गिरने लगे, ऐसी यह जनककुमारी जानकी पतिकी मृत्यु से डरी हुई कहने लगी कि—हे नाथ उस रावणरूप कालके द्वारा आपने मुझको अपने समीप क्यों

नहीं बुला लिया ? अथवा हृदयमें स्थित आपके वियोगसे उत्पन्नहुई विशाल अग्नि की ज्वाला क्या मुझको भस्म नहीं करैगी ? ॥ २ ॥

(रामशिरःकमलमधिकृत्य)

हा राम हा रमण हा जगदेकवीर
तत्किं न स्मरसि ।

(श्रीरामचन्द्रजीके शिरःकमलकी ओरको देखकर)

हा राम ! हा नाथ ! हा संसार भरमें एकमात्र वीर ! क्या आपको वह स्मरण नहीं रहा ? ॥

अधरमधु मदीयं कामकेलीषु पीत्वा-
ऽमृतमिति यदवादीस्तीरवानीरकुञ्जे ।
किममृतपरिपूर्णं शीर्णमप्यम्बरेऽर्क-
स्तम इव नहि शत्रुं नाथ मथ्नासि घोरम् ॥ ३ ॥

हे नाथ ! जो कि कामक्रीडाओंके समय नदीके तटपर वेतके लतागृहोंमें मेरे अधर रसको पीकर कहते थे, कि-- क्या यह अमृत है इसके सामनेतो यह आकाशमें का अमृत चन्द्रमाभी नीरस प्रतीत होता है वह आज आप जैसे सूर्य अन्धकारका नाश करता है, तैसे इस घोर शत्रुको क्यों नहीं मथडालते ? ॥ ३ ॥

रावणः--

शिरोविरहशोकमोहरोपप्रेमाकुलामालापैराश्वासयति ।

रावण--शिरश्छेदके कारण शोक मोह क्रोध और राम प्रेमसे व्याकुल हुई सीता को बातें बनाकर आश्वासन देता है ॥

जानकी-सत्वरं प्राणांस्त्यक्तुमिच्छन्ती भोः प्राणाधिनाथ राम !

सीता--तत्काल प्राणोंके त्यागनेकी इच्छा करती हुई हे प्राणनाथ ! हे राम !

अहह मधुरवाणी किं न वक्त्रारविन्दे
नयनकमलयोस्ते नो मदङ्गे विलासः ।

अमरसुरवधूनां वल्लभोऽद्यापि नूनं
व्रजतु परमहंसो मे त्वदालिङ्गनेन ॥ ४ ॥

बडे कष्टकी बात है कि--तुम्हारे मुखकमलमें मीठी वाणी क्यों नहीं है और आपके नेत्र कमलोंका मेरे शरीर पर विलासभी नहीं है यदि तुम सत्यही इसी समय स्वर्ग लोककी रमणियोंके प्यारे होगये हो तो जाइये परन्तु मेराभी यह जीवात्मा आपके आलिंगन द्वारा ही अर्थात् आपके साथही जाय ॥ ४ ॥

इति रामशिरःकमलमालिङ्गितुमिच्छति, आकाशे कोलाहलः—

ऐसा कहकर रामचन्द्रजीके शिरःकमलको आलिङ्गन करनेकी इच्छा करती है। इतनेमें ही आकाशमें कोलाहलका शब्दहोता है--

न खलु न खलु सीते रामभूपालमौलिः
समरशिरसि वध्यो न प्रियस्ते कदाचित् ।
स्पृश कथमपि मातर्मा निशाचारिणस्त्वं
हर हर हरभक्तस्यैष मायावातारः ॥ ५ ॥

हे सीते ! यह सर्वथा ठीक ही है कि--यह महाराज रामचन्द्रजीका शिर नहीं है। निश्चयही तुम्हारे प्यारे राजमुकुटमणि रामचन्द्र युद्धमें कभी भी किसीसे वध्य नहीं है। हे माता ! तुम इस शिरको किसी प्रकारभी स्पर्श न करना। शिव २ यह तो शिवभक्त राक्षस रावणकी मायाका चमत्कार है॥ ५ ॥

इत्याकाशवाणीश्रवणमात्रेण शिरसी गगनमुत्पत्य निष्क्रान्ते रावणेन सह ॥

इस प्रकार आकाशवाणीको सुनते ही रावणसहित वह दोनों शिर आकाशमेंको उडकर चलेगये ॥

जानकी—

(सहर्षं, सत्रपं च) अयि परमधर्मिणि कृपातरंगिणि सरमे किमित्यद्भुतमिति ।

सीता–(हर्षके साथ लज्जित होकर) अरी परमधार्मिके कृपासागरे सखि सरमे ! यह क्या आश्चर्य है ॥

सरमा राक्षसी–(सदयम्)

जानकि त्वं न जानीषे रावणस्यातिदारुणाम् ।
मायामासाद्य मा भैषी रामः कामं स जीवति ॥ ६ ॥

सरमा राक्षसी–(दयाभावसे) हे जानकी ! तुम नहीं जानतीहो । रावणकी परम दुःखदायक मायाको देखकर डरो मत वह रामचन्द्रजी तौ निस्संदेह जीवित हैं ॥ ६ ॥

कोलाहलं काहलमर्दलानां हेषारवं सज्जतुरंगमाणाम् ॥
आकर्णयाकर्णविशालनेत्रे रामागमादार्तनिशाचराणाम् ॥ ७ ॥

हे कर्णपर्यन्त विशालनेत्रोंवाली सीते ! रामचन्द्रके आनेसे घवडाये हुए राक्षसोंके काहल नामक रणवाजेके तथा नगाडेके शब्दको तथा सजेहुवे घोडोंकी हिनहिनाहटके शब्दको सुनो ॥ ७ ॥

विरम विरम शोकात्कोपमानोऽथ रामः
सतनयपशुवन्धं रावणं मर्दयित्वा ।
बलभिदुपलनीलः कोमलः कोमलाङ्गि
त्वदधरमधुपानं हुं करिष्यत्यजस्रम् ॥ ८ ॥

अरी ! शोकसे शान्त हो २ क्योंकि, इन्द्रनीलमणिकी समान श्यामशरीर सुकुमार रामचन्द्रजीको अव क्रोध आगया है, इसकारण वह पुत्र आदि कुटुंबियोंसमेत रावणको पशुकी समान वाँध और मसलकर हे कोमलाङ्गि ! तुम्हारे अधरोंका पान करेंगे, तुम डरो मत ॥ ८ ॥

जानकी–

कामं जीवति मे नाथ इति सा विरहं जहौ ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता ॥ ९ ॥

जानकी–मेरे स्वामी निस्सन्देह जीवित हैं ऐसा विचार कर जानकीने शोकको त्यागदिया, और पहिले उन रामचन्द्रजीके अन्तको सत्य जानकर मैं अभी जीवित हूँ यह सोच कर लज्जाको प्राप्त थी ॥ ९ ॥

रावणः–

ततः पुनरप्यशोकवाटिकां प्रविशति मारनाराचभिन्नो रावणः सुरसुन्दरीभिः परिवृतः सीताहृदये विकारमुत्पादयितुम् । भो जानकि पश्य ।

तदनन्तर रावण फिर कामदेवके बाणोंसे बिंधकर वारांगनाओंसे घिरा हुआ अशोक वाटिकामें प्रवेशकरता है और सीताके चित्तमें विकार उत्पन्न करनेको कहताहै कि--हे जानकि ! देख ।

अस्मच्चण्डचपेटघातपतितःस्वर्दन्तिकुम्भस्थल
स्थूलोन्मुक्तसरक्तमौक्तिकलतास्तोमार्चितांघ्रिस्तनाः ।
एतास्त्वत्पदपद्मषट्पदवधूप्रायाः पुरन्ध्र्यो ध्रुवं
सीते सम्प्रति संगतं तव सतीचारित्र्यवल्लीफलम् ॥ १० ॥

हे सीते ! मेरे प्रचण्ड चपेटेकी चोटके लगनेसे गिरते हुए स्वर्गके हाथियोंके गंडस्थलसे गिरे हुए बहुतसे रक्त सहित मोतियोंकी लडियोंके समूहसे भूषित चरण कमल और कुचोंवाली मेरी ये स्त्रियें इस समय जो तुम्हारे चरण कमलोंमें भौंरियोंकी समान सेवा करनेको प्राप्त हुई हैं सो तुमने अपने पातिव्रतरूप लताके विस्तारका फल पा लिया ॥ १० ॥

सीते पश्य शिरांसि यानि शिरसा धत्ते महेशः पुरा
तानि त्वत्पदसंश्रितानि सुभगे कस्मादवज्ञायसे ।
श्रुत्वैवं परदारलम्पटवचः स्मित्वा हतं रावणं
निर्माल्यानि शिरांसि तानि तव धिक्साध्वीवचः पातु वः ॥

हे सीते ! देख--जिन शिरोंको मैंने पहिले महादेवके ऊपर चढाया था हे सुभगे ! वही मस्तक तेरे चरणोंके आश्रित है, फिर भी तू मेरा अपमान क्यों करती है, इस

प्रकार पराई स्त्रीके लम्पट रावणकी वात सुनकर सीताने मुसकुरा कर कहा कि अरे ! यह शिर शंकर पर चढायेहुए निर्माल्य अर्थात् स्पर्श करनेके अयोग्य हैं अरे तुझको धिक्कार है । यह पतिव्रता सीताका वचन तुम्हारी रक्षा करै ॥ ११ ॥

भवित्री रम्भोरु त्रिदशवदनग्लानिरधुना
स ते रामः स्थाता न युधि पुरतो लक्ष्मणसखः ।
इयं यास्यत्युच्चैर्विपदमधुना वानरचमू-
र्लघिष्ठेदं षष्ठाक्षरपरविलोपात्पठ पुनः ॥ १२ ॥

हे रम्भोरु ! अभी देवताओंके मुखोंकी मलिनता होने वाली है, अर्थात् रामचन्द्रके नष्ट होने पर देवताओंके मुख भी उतर जाँयगे; क्योंकि–जिनके लक्ष्मण भ्राता है वह रामचन्द्र भी युद्धमें मेरे सन्मुख खडे नहीं होसकेगें यह वानरोंकी सेना अभी वडीभारी आपत्तिमें फँसेगी । यह सुनकर जानकीने कहा कि–हे नीच ! इस श्लोकके पहिले तीन चरणोंके छठे अक्षरसे आगे सातवें अक्षर " त्रि " का लोप होनेसे अर्थात् पाहिले चरणमें के सातवें अक्षरका लोप करके फिर पढ "त्रिदशवदनग्लानि " पदके स्थानमें ' दशवदनग्लानि ' ऐसा रहता है जिसका अर्थ हुआ कि–रावणके ही मुख उतर जाँयगे, ऐसे ही दूसरे चरणमें सातवें अक्षर ' न ' का लोप होनेसे ' स ते रामः स्थाता युधि पुरतः' का अर्थ होता है कि–युद्धमें रामचन्द्र तेरे सामने खडे होंगे, तथा तीसरे चरणमें सातवें अक्षर ' वि ' का लोप होनेसे ' वानरचमूः उच्चैः पदं यास्यति ' का यह अर्थ होता है कि–वानरोंकी सेना यश स्वरूप उच्चपदको पावेगी ॥ १२ ॥

(सवैदग्ध्यम्)

रे रे लङ्केश लौल्यात् त्रिपुरविजयिनो मा प्रतीपीः प्रसादं
मा मां छित्त्वाल्पवुद्धे न खलु भवसि वै प्राकृतः प्राणरंकः ॥
मारारे माविताररीर्विरमनलभुवा शापितोसीति यस्य
क्रुद्धं मूर्धानमीशोप्यनुनयति भृशं सोऽयमुच्चैर्दशास्यः ॥ १३ ॥

रावण-(चतुरतासे) अरे रे लंकापते ! तू त्रिपुरासुरनाशक शिवजीके अनुग्रहकी इच्छा मत कर हे क्षुद्रबुद्धे ! तू हमै काट २ कर कामारि पार्वतीपतिके वरोंका भागी नहीं होगा । हे कामनाशक ! आप भी इसको वर न दीजिये क्योंकि तुमको अग्निकुमार स्वामिकार्त्तिकेयने शाप दिया है, हे सति ! जिसके इस प्रकार क्रोधितहुए मस्तकको शंकर भी समझाते हैं वह मैं दशकंठ रावण हूँ ॥ १३ ॥

अर्धं चेतसि जानकी विरमयत्यर्धं च लंकेश्वरः
किं चार्धं विरहानलः कवलयत्यर्धञ्च रोषानलः ।
इत्थं दुर्विधवैशसव्यतिकरे दाहे समेप्येतयो-
रेकं वेद्मि तु पारदग्ध्यमपरं दग्धं करीषाग्निना ॥ १४ ॥

और रामचन्द्रजीके मनके आधे भागको तो जानकी घेरेहुए है और आधेको रावणका स्मरण, उसमें जानकीके स्मरणके घेरेहुए अर्धभागको वियोगकी अग्नि जलाती है और दूसरे आधे भागको क्रोधकी अग्नि जलाती है ऐसी अद्भुत प्रकारकी हिंसाका जिसमें शीत उष्णकी समान व्यवसाय है ऐसे कामदेव और क्रोधकी अग्निके दाह समान होनेपर चित्तके एक आधे भागको भूसीसे जलाहुआ और दूसरे आधे भागको उपलोंकी तेज अग्निसे भस्म हुवा जानता हूँ अर्थात् राम तो दग्धहृदय होगया, अब तू मुझको भज ॥ १४ ॥

मुग्धे मैथिलि चन्द्रसुन्दरमुखि प्राणप्रयाणौषधि
प्राणान् रक्ष मृगाक्षि मन्मथनदि प्राणेश्वरि त्राहि माम् ।
रामश्चुम्बति ते मुखं च सुमुखेनैकेन चाहं पुन-
श्चुम्बिष्यामि तवाननं बहुविधैर्मुञ्चाग्रहं मानिनि ॥ १५ ॥

अरी अजान ! जनकनन्दिनि ! हे सुन्दरचन्द्रानने ! हे निकलतेहुए प्राणोंकी औषधिरूप ! तू मेरे प्राणोंकी रक्षा कर, हे मृगनयनि ! हे मदनकी नदि ! हे जीवितेश्वरि ! तू मेरी रक्षा कर, हे मानिनि ! रामचन्द्र तो तेरे मुखको अपने एक ही मुखसे चूमते हैं और मैं तेरे मुखको अपने बहुतसे मुखोंसे चुम्बन करूंगा, इस कारण तू अपने हठको त्यागदे ॥ १५ ॥

जानकी–

विरम विरम रक्षः किं वृथा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः ।
रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्ते-
र्दशमुख भवदीयो निष्कृपो वा कृपाणः ॥ १६ ॥

जानकी--रे राक्षस ! थम, थम, वृथा वकवादसे क्या लाभ है ? अरे ! मेरे कण्ठकी सीमाको नीलकमलकी समान कान्तिवाले रामचन्द्रजीके भुजदण्ड और तेरी कठोर तलवारके सिवाय और दूसरा कोई छू भी नहीं सकता ॥ १६ ॥

पश्य–

मद्ध्यानेनाभवद्रामः सीता रक्षस्तु तस्य वै ।
पश्य त्वत्कुलनाशाय मया रामेण भूयते ॥ १७ ॥

देख–अरे राक्षस ! रामचन्द्रजी तौ मेरी चिन्तासे सीता (दुर्बल) ही होगये और यह निश्चय समझ कि–उनके ध्यानसे मैं तेरे कुलका नाश करनेके अर्थ राम-चन्द्र होगई हूँ ॥ १७ ॥

इति रावणो निष्क्रान्तः ।

निजमन्दिरं कियन्तं समयं नीत्वा (स्वगतं) महान्तं प्रपंच-मुत्पाद्य नूनं जानकीमनुभविष्यामीत्यवधार्य–

यह सुनकर रावण चलागया, और अपने मन्दिरमें कुछ थोडेसे समयको विताकर मनमें ही विचारनेलगा कि–इस समय एक बडेभारी प्रपंचकी रचना करके मैं निस्संदेह जानकीको भोगूंगा ऐसा विचार करकै–

भेरीनिःसाणशंखध्वनिगणतुरगस्यन्दनस्फीतनादैः
सानन्दं राक्षसेन्द्रः कटकभटभुजास्फालकोलाहलेन ।

लंकामापूर्य रामः स्वयमभवदथो मायया रावणस्य
छिन्नान्मूर्ध्नो दधानः शिरसिरुहभरेष्वेकतः पञ्च पञ्च ॥ १८ ॥

इसके उपरान्त भेरी, निसाण, और शंखोंकी ध्वनी तथा घोडे रथोंके गंभीर शब्दों करके और सेनाकरके योधाओंकी भुजाके ताडनके शब्दसे लंकाको परिपूर्ण करके आनन्दके साथ वह राक्षसराज रावण माया करके रावणके केशोंके मध्यमें पकडेहुए कटेहुए शिरोंको एक २ हाथमें पाँच २ धारण कियेहुए स्वयं ही रामरूप बनगया ॥ १८ ॥

एवं विधो भूत्वा पुनरशोकवनिकां प्रविश्य रावणः–

लंकाभटोऽथ रघुनन्दनवेषधारी
पापो जगाम पुरतो जनकात्मजायाः ।
नाम्नापि यस्य कुत इच्छति तस्य रूपा-
दन्याङ्गनापहरणे न मनः कदाचित् ॥ १९ ॥

इस प्रकारका होकर फिर अशोकवाटिकामें जाकर रावण–अब दुष्टात्मा रावण रामचन्द्रका स्वरूप धारण कर जानकीजीके समीप गया जिन रामचन्द्रजीके नाम-मात्रका स्मरण करनेसे ही चित्त परस्त्रीकी ओरको कहाँ इच्छा करता है ? अर्थात् कदापि इच्छा नहीं करता तौ फिर उनके साक्षात् रूपसे मन परास्त्रियोंके हरण करनेमें कैसे अभिलाषा करैगा ? अर्थात् कदापि नहीं करैगा ॥ १९ ॥

जानकी रघुनन्दनवेषधारिणं तमालोक्य (सहर्षम्)

साक्षादालोक्य रामं झटिति कुचतटीभारनम्रापि हर्षा-
दुत्थायोदस्तदोर्भ्यां दरदलितकुचाभोगचैलोन्नताङ्गी ।
धन्याहं प्राणनाथ त्यज रजनिचरच्छिन्नशीर्षाणि गाढं
मामालिंगाद्य खेदं जहि विरहमहा पावकः शान्तिमेतु ॥ २० ॥

जानकी रामचन्द्रजीके वेषको धारण करनेवाले रावणको देख (हर्षके साथ) स्तनोंके बोझसे नम्र होतीहुई भी सीताजी प्रत्यक्ष रामचन्द्रजीको देख बडे हर्षसे

तत्काल ही उठकर उनको आलिंगन करनेके निमित्त फैलाईहुई भुजाओंसे और कुछ एक फटेहुए कुचाओंके वस्त्रसे उन्नत शरीरवाली होकर कहनेलगी कि–हे नाथ ! मैं धन्य हूँ इन कटेहुए रावणके मस्तकोंको फैंक दो और दुःखको त्याग मेरा गाढ आलिङ्गन करो जिससे कि–आपके विरहका परमदाह शान्त होवै ॥२०॥

इत्यालिंगितुमिच्छति–

ऐसा कहकर आलिङ्गन करनेकी इच्छा करती है ।

रामवेषधारी रावणः–(सविषादम्)

भूत्वा ततोप्यवसरे जनकात्मजायां
लंकापतिर्मकरकेतुशरातुरायाम् ।
क्लीबो विशीर्णमणिदण्डयुतः स्मरार्तः
पापात्ततः शिव शिवान्तरधीयत द्राक् ॥ २१ ॥

इसी वीचमें रामरूपधारी–रावण (विषादके साथ) उस समय कामके बाणोंसे जर्जरित हुई जानकीके विषयमें लंकाका स्वामी रावण विशीर्णमणिदण्डवाला (नपुंसक) होकर हे शिव ! हे शिव ! ऐसा कहताहुआ सीताको धोखा देनेके पापसे तत्काल ही अन्तर्धान होगया ॥ २१ ॥

जानकी–

सरमोपदेशाद्रावणं रघुनन्दनवेषधारिणं मत्वा (सविषादं)

सरमा राक्षसीके कहनेसे रावणको रामवेषधारी जानकर (विषादपूर्वक)

जानकी–

हाकाश ! हा धरणि ! हा वरुणार्क ! वायो
वेत्स्यामि धर्म कथमागतमात्मनाथम् ।
(आकाशे) मन्दोदरी रघुशराहतराक्षसेन्द्रं
चुम्बिष्यति त्वमपि वेत्स्यसि तत्र रामम् ॥ २२ ॥

हे आकाश ! हे पृथिवी ! हे सूर्य ! हे पवन ! हे धर्मराज ! मैं आएहुए अपने प्राणप्रिय रामचन्द्रजीको कैसे पहिचानूँगी ? (उसी समय आकाशवाणी हुई कि) जिस समय रामचन्द्रजीके बाणोंसे मृत्युको प्राप्तहुए रावणको मन्दोदरी चुम्बन करैगी उस समय तुम भी रामचन्द्रजीको पहिचानलोगी ॥ २२ ॥

अथ निजकेलिमन्दिरस्थो रावणः—(स्वगतम्)

कृतकृत्येपि रामत्वे वर्तमाने मयि स्थिते
निरुध्यन्त्येव ताः सर्वाः पापमूलाः प्रवृत्तयः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् अपने क्रीडास्थानमें बैठाहुआ रावण आप ही आप—कर्त्तव्य कार्यको सम्पादन करनेवाले रामवेषमें मेरे स्थित होनेपर भी न जाने पहिले किस पापके कारणसे यह नपुंसक होना आदि प्रवृत्तियें मुझे मनोरथ पूरा करनेसे रोके देती हैं ॥ २३ ॥

जनस्थाने भ्रान्तं विषयमृगतृष्णाहृतधिया[1]
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृता लंकाभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥ २४ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके रावणप्रपञ्चो नाम दशमोऽङ्कः ॥ १० ॥

सीता की अभिलाषारूप मृगतृष्णासे हतबुद्धि हुआ मैं दण्डकारण्यमें घूमा आँसुओंके साथ रुदन करतेहुए हा जानकि ! यह वचन कहते पद २ पर विलाप किया जिस समय मायासे मैंने रामका रूप धारा उस समय अपने शिर भी काटे इसप्रकार तो मैंने रामपना पालिया परन्तु सीरध्वजकुमारी जानकी तब भी न मिली ॥ २४ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके भाषाटीकायां रावणप्रपञ्चो नाम दशमोऽङ्कः ॥ १० ॥

---

१ न्वितधिया इति पाठान्तरम् ।

एकादशोऽङ्कः ।

अथ तत्र सुवेलाद्रिकटके लंकापतेः सकाशादधिगतं दूतमङ्गदं जानकीवल्लभः पप्रच्छ । अये दूताङ्गद ! लंकेश्वरे सन्धिर्न जनिता प्रीतिकारिणी स्यादनुपकारिणी वा ॥

इसके उपरान्त उधर सुवेलाचल पर्वतके ऊपर सेनाके पडावमें रावणके पाससे आयेहुए अङ्गद नामक दूतसे सीतापति रामचन्द्रजीने पूछा कि, हे अङ्गद ! रावणसे सन्धि कीजाय तो अच्छा होगा या बुरा यह तुमने नहीं कहा ।

अङ्गदः-

राजन् सर्वथेयमनुपकारिणी पुलस्त्यापत्ये प्रीतिरिति भगवानिहोदाहरणम् हरिणाङ्कशेखरस्तद्गुरुत्वात् ॥

अङ्गद—हे राजन्—पुलस्त्यके वंशमें उत्पन्नहुए रावणसे सन्धि करना सर्वथा अनुपकारी ही होगा क्योंकि--इस विषयमें चन्द्रमौलि भगवान् शिवही साक्षी हैं कारण कि उसके वह गुरु हैं ॥

उक्षा रथो भूषणमस्थिमाला भस्माङ्गरागो गजचर्म वासः ।
एकालयस्थेऽपि धनाधिनाथे सख्यौ दशेयं त्रिपुरान्तकस्य ॥ १ ॥

त्रिपुरासुरनाशक शिवकी, कुवेरके समान मित्रके एक ही स्थान कैलासमें स्थित होनेपर भी यह विपरीत दशा है कि—सवारी बैल है, हड्डियोंकी मालाका गहना है भस्मका अङ्गराग है और हाथीके चमडेका वस्त्र है, तो उनके शिष्य रावणकी मति विपरीत होनेमें क्या सन्देह है ? ॥ १ ॥

रामः-(विहस्य)

भो महावीराङ्गद युवराज वानरभटान्ब्रूहि । भो भोः सुग्रीवसैनिकाः रात्रौ सावधानतया स्थातव्यं श्वः सूर्योदये रामस्य समरोत्सवो भविष्यति ॥

(रामचन्द्रजी हँसकर) हे युवराज महाबली अङ्गद ! तुम वानरभटोंसे कहदो कि–भो भो ! सुग्रीवकी सेनाके वानरो ! आज रातमें बहुत ही सावधान रहना, कल प्रातःकाल ही रामचन्द्रके संग्रामका उत्सव होगा ॥

अङ्गदस्तथैव करोति। कटके शयानौ रामलक्ष्मणौ निहन्तुं रावणेन प्रहिता प्रभञ्जनी नाम राक्षसी ॥

अङ्गद वैसा ही करतेहैं अर्थात् वीरवानरोंको सावधान करते हैं। सेनाके पडावमें सोतेहुए राम लक्ष्मणको मारनेके निमित्त रावणकी भेजीहुई प्रभंजनी नाम राक्षसी ॥

उत्खातदारुणसुतीक्ष्णकृपाणिकासौ
वीराटवीषु निशि निर्भरतः शयानम् ।
दृष्ट्वा सुदर्शनगुरुभ्रमणेन गुप्तं
रामं निहन्मि कथमद्य वरं वराकी ॥ २ ॥

रात्रिके समय उठायेहुए बडे दारुण और तेज खड्गको धारण करनेवाली यह पुंश्चली रातके समय वीरोंकी पंक्तियोंके मध्यमें गहरी नींदमें सोते और सुदर्शन चक्रसे रक्षित रामचन्द्रजीको देखकर आज इनको मैं किसप्रकार से वध करूँ ? यह सोचने लगी ॥ २ ॥

तत्रावसरे प्रबुद्धमंगदं वीरमवगम्याधीरं पुनर्गन्तुमुद्यता प्रभञ्जनी ॥

उसी अवसरमें वीर अंगदको जगाहुवा जानकर प्रभजनी अधीर होकर जानेको उद्यत हुई ॥

अङ्गदः–(साटोपम्)

मा गास्तिष्ठ निशाचरि क्षणमपि स्थित्वा पुनर्गम्यतां
यत्रास्ते भुजविक्रमाखिलजगाद्विद्रावणो रावणः ।
अद्याप्यङ्गदबाहुपाशपतिता मूढे किमाक्रन्दसे
सिंहस्यान्तिकमागतेव हरिणी कस्त्वां परित्रायते ॥ ३ ॥

(अङ्गद ललकार)–अरी राक्षसी ! खडी रह ! भाग मत ! थोडी देर तक ठहर कर तहाँ जाना कि–जहाँ निजभुजदण्डोंके पराक्रमसे समस्त संसारको रुलानेवाला रावण है। री मूर्ख ! तू अंगदके बाहुरूप पाशोंमें पडीहुई रोती क्यों है ? सिंहके पास पहुँचीहुई हिरनीकी समान तू मेरे समीप आगई है, देखूँ अब कौन तेरी रक्षा करसक्ता है ? ॥ ३ ॥

कटके वानरभटास्तद्घोरचीत्कारमाकर्ण्य भैरवरवै-
र्दोस्तम्भास्फालकेलिमभिनीय साटोपमुत्पाटितमू-
लोग्रशैलधारिणः प्रचण्डकोलाहलेन लङ्कामाकु-
लयन्तोऽकूपारस्येव यामिन्याः परं गताः ॥

लश्करमें वीर वानर उसकी घोर चिल्लाहटको सुनकर डरावने शब्दोंसे और भुजदण्डों पर थाप देनेका खेलसा करके वेगके साथ जडसहित उखाडेहुए बडे २ पहाडोंको धारण किये प्रचण्ड कोलाहलसे लंकाको व्याकुल करतेहुए समुद्रकी समान रात्रि के पारको प्राप्तहुए ॥

लंकायां रावणः सूर्योदयमासाद्य वानरवाहिनीको-
लाहलामर्षमूर्च्छितः समरभूमौ कटकमुत्कटं प्रस्था-
प्य लंकाचलशिखरपर्य्यंकमारुह्य पुरःस्थितेन महो-
दरेण मंत्रिणा सह रामवाहिनीमहिमानं पश्यति स्म ।

लंकामें सूर्योदयके समय रावण वानरोंकी सेनाके कोलाहलको सुनने पर क्रोधसे विचेतन हुआ समरभूमिमें अनेकों वीरोंकी उत्कट सेनाको भेजकर स्वयं त्रिकूटाचल पर्वतके शिखर रूप शय्यापर चढकर समीप बैठेहुए महोदर नामक मन्त्रीके साथ रामचन्द्रजीकी सेनाके प्रभावको देखनेलगा ॥

तत्र रामकटके वानराः–

खेलन्तोखिलवानरा जलनिधौ दृष्ट्वा रणे राक्षसा-
नुत्पाटयाशु विमानमेव जगृहुः पृथ्वीं समां चक्रिरे ।

दृष्ट्वा तं च विभीषणं रघुपते त्राहीति वाक्यं तदा
श्रुत्वासौ हनुमानुपेत्य तरसा प्रीत्या ददर्श स्वयम् ॥ ४ ॥

उस समय रामचन्द्रकी सेनामें समुद्रके तटपर खेलतेहुए सब वानरोंने संग्रामभूमिमें राक्षसोंको देखकर और शीघ्रतासे वृक्षोंको उखाडकर पृथ्वीको मैदान करडाला परन्तु वली विभीषणको देखकर कहनेलगे कि–हे राम ! रक्षा करो । तब उनके इस वाक्यको सुनकर हनुमान्‌जी तत्काल आये और बडे प्रेमके साथ महावीर हनुमान् स्वयं विभीषणके समीप गये ॥ ४ ॥

लङ्कायां रावणः महोदरं पृच्छति । भो महोदर !
कदागतो रामोऽस्माभिर्न विदितं रामागमनदिनम् ॥

लंकामें महोदरसे रावण पूंछने लगा कि–हे महोदर ! राम यहाँ कब आगये ? इनके आनेके दिनका समाचार हमको मालूम ही नहीं हुआ ॥

महोदरः–(सीतां प्रयच्छतु रामायेति बुद्ध्या साहसमवलम्ब्य)

महोदर–(रामचन्द्रको जानकी देदो ऐसी बुद्धिसे साहसका आश्रय करके)

राजल्लँकेश्वर !

न्यञ्चद्भूवलयं चलत्क्षितिधरं क्षुभ्यत्समस्तार्णवं
त्रस्यद्वैरिवधूविलोचनजलप्रारब्धवर्षोद्गमम् ।
प्रोदंचत्कपिवाहिनीपदभरव्याधूतधूलीपट-
च्छन्नादित्यपथं कथं न विदितं तज्जैत्रयात्रादिनम् ॥ ५ ॥

हे राजन् ! लंकेश्वर ! भूमण्डलको झुकाता पहाडोंको हिलाता सब समुद्रोंको क्षोभित करता शत्रुओंकी व्याकुलहुई स्त्रियोंके नेत्रोंके जलसे वर्षाके आवागमनका आरम्भ करता और अत्यन्त उछलतेहुए वानरोंकी सेनाओंके चरणोंके बोझसे उडीहुई धूलिके समूह करके सूर्यके मार्गका रोकनेवाला श्रीरामचन्द्रजीकी विजययात्राका दिन तुमने कैसे नहीं जाना ? ॥

जयप्रयाणे रघुनन्दनस्य धूलीकदम्बास्तमिते दिनेशे ।
शशिप्रभं छत्रमुदीक्ष्य बाला सूर्योदये रोदिति चक्रवाकी॥ ६ ॥

रामचन्द्रजीकी विजययात्राके समय धूलिके पटलसे सूर्यके छुपजाने पर चन्द्रमाकी सदृश कान्तिवाले मण्डलको देखकर सूर्यका उदय होनेपर भी कोई युवती चकवी रोनेलगी ॥ ६ ॥

सहायार्थमिन्द्रप्रदत्तं छत्रगजतुरंगावलीसंभवो रामदेवस्य ॥

रामचन्द्रजीकी सहायताके अर्थ इन्द्रने छत्र हाथी और अनेकों घोडे भेजे ॥

रावणः—महोदर ! रामः कुत्रास्ते ।

रावण—महोदर ! रामचन्द्र कहाँ है ? ।

महोदरः—देव ! पश्य—

महोदर—हे स्वामिन् ! देखो !

अङ्के कृत्वोत्तमांगं प्लवगबलपतः पादमक्षस्य हन्तु-
र्भूमौ विस्तारितायां त्वचि कनकमृगस्याङ्गशेषं निधाय ।
बाणं रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनार्पितं तीक्ष्णमक्ष्णोः
कोणेनोद्वीक्ष्यमाणस्तदनुजवचने दत्तकर्णोऽयमास्ते ॥ ७ ॥

वानरराज सुग्रीवकी गोदमें शिर और अक्षकुमारके मारनेवाले हनूमान्की गोदमें [illegible] रखकर तथा भूमिमें बिछाईहुई सोनेके मृगकी मृगचर्म पर शेष शरीरको [illegible]ापित करके छोटे भाई लक्ष्मणकी दी हुई प्रत्यंचा पर चढे राक्षसकुलनाशक, तीक्ष्ण बाणको नेत्रोंके कोणसे देखतेहुए श्रीरामचन्द्रजी देखो यह आपके भाई विभीपणकी बातों पर कान लगायेहुए हैं ॥ ७ ॥

अपि च—भ्रूभङ्गाद्बद्धसिन्धू रघुपतिरवताद्बन्दिना वेदितोसौ
विष्टस्ते मातुलस्य त्वचि पुनरनुजं मंत्रिणो दत्तकर्णाः ।
बाणे दत्तार्धदृष्टिस्तव जयपिशुने लक्ष्मणे सस्मितो यः
सुग्रीवग्रीववाहुः कृतचरणभरः सोऽङ्गदे रावणोऽयम् ॥ ८ ॥

और भी—हे रावण ! जिन्होंने अपनी भ्रुकुटीके चलानेमात्रसे ही समुद्रको बाँधा बन्दीजन जिनसे निवेदन कररहा है कि—महाराज ! रक्षा करो ! तथा तुह्मारे मामा मारीचके चर्म पर बैठेहुए तुम्हारे छोटे भाई विभीषणके मन्त्रको कान लगाये सुनरहे हैं जिनकी दृष्टि आधी वाण पर है और जो तुम्हारी जयके विनाशी लक्ष्मणकी ओरको मुसकुरातेहुए सुग्रीवके गलेमें गलवैयां डाले अंगदकी गोदीमें चरण का भार डालेहुए हैं यही शत्रुके रुलानेवाले रामचन्द्र हैं ॥ ८ ॥

गगनं गिलितं भूमिर्गिलिता गिलिता दिशः ।
सरितः प्लवगैः पीताः सीतापतिपदानुगैः ॥ ९ ॥

हे दशमुख ! सीतापति रामचन्द्रजीके सेवक वानरोंने आकाश व्याप्त करदिया पृथ्वीको अदृश्य करदिया समस्त दिशाओंको छाकर प्रकाश रहित करदिया और नदियोंको तो वे मानो पीगये ॥ ९ ॥

देव महोत्पातं पश्य मध्यन्दिनेऽपि ।
क्वचिन्मीनः क्वचिन्मेषः क्वचिल्लम्बितकृत्तिका ।
क्वचिन्मृगशिरः सार्द्रं नभो व्याधगृहायते ॥ १० ॥

हे स्वामिन् ! देखो तो सही मध्याह्नसमयमें भी यह महा उत्पात होते हैं । मीनरूप कहीं पूर्वा उत्तरा तथा रेवती नक्षत्र दृष्टिगोचर होरहे हैं, कहीं मेषरूप अश्विनी भरणी दीखरहे हैं कहीं कृत्तिका लम्बायमान है और कहीं आर्द्रासहित मृगशिर है इस प्रकार इस समय समस्त आकाश व्याधके घरकी तुल्य प्रतीत होरहा है ॥ क्योंकि—व्याधके घर भी मीन, मेष, लटकतीहुई कृत्तिका कहिये छुरी और रुधिरसे आर्द्र (गीला) मृगका शिर होता है ॥ १० ॥

रावणः—(साभ्यसूयम्)

अहो महोदरामात्य किमर्थं वल्गसे—पश्य
प्रतापं संसोढुं रविरपि दशास्यस्य न विभु-
र्निमज्जत्युन्मज्जत्यपरजलधौ पूर्वजलधौ ।

हरिः शेते वार्धौ निवसति हिमाद्रौ पुरहरो
विरिञ्चिः किञ्चापि स्वनिजकमलं मुञ्चति न वा ॥ ११ ॥

रावण—(डाहके साथ) हे महोदर मंत्री ! क्यों वड २ करता है, देख ? रावणका प्रताप सहनेको सूर्य भी समर्थ नहीं है, इस ही कारण वह पश्चिमके समुद्रमें डूवता है और पूर्वके समुद्रमें उदित होता है सो मानो पूर्वसमुद्रमें उछलता है, मेरे डरसे विष्णु समुद्रमें सोते हैं, त्रिपुरारी महादेवजी कैलास पर रहते हैं और ब्रह्मा भी नहीं मालूम कि, अपने उत्पत्ति स्थान कमलको छोडता है या नहीं ? अर्थात् उस बूढेकी तो मैं खवर ही नहीं रखता ॥ ११ ॥

अत्रान्तरे यथा रावणो न वेत्ति तथाशोकवनिकास्थित-
विमाने जानकीमारोप्य रामं दर्शयति स्म सरमा ॥

इस अवसरमें जिस प्रकार रावण न जानसके ऐसी युक्तिसे अशोकवाटिकामें रक्खे हुए विमानमें जानकीको वैठालकर सरमा राक्षसीने रामचन्द्रजी दिखाए ॥

विदेहदुहितुर्दृष्टिर्दशग्रीवरिपौ बभौ ।
सुनीलेव मनोरम्ये तमाले मधुपाङ्गना ॥ १२ ॥

जनकनन्दिनी जानकीकी दृष्टि दशवदननिधनकारी रामचन्द्रजीमें ऐसी शोभाको प्राप्त हुई जैसे कि—मनोहर नीले तमालके वृक्ष पर भौंरी शोभा देती है ॥ १२ ॥

तत्र रामकटके वानराणाम्—
हेमप्राकारजघनां रत्नद्युतिदुकूलिनीम् ।
लंकामेके त्रिकूटस्य ददृशुर्वनितामिव ॥ १३ ॥

उधर रामचन्द्रजीके दलमें वानरोंमेंसे किन्हींने सोनेके परकोटेरूप जंघावाली तथा रत्नोंकी कान्तिरूप साडीवाली लंकापुरीको त्रिकूटाचलकी स्त्रीकी सदृश देखा ॥ १३ ॥

लंकायां रावणः । भो महोदर ! सर्वैर्मन्त्रिभिः प्रबो-
ध्यतामयं वीरः कुम्भकर्णः ॥

लंकामें रावण वोला कि—हे महोदर ! सब मंत्री मिलकर इस वीर कुम्भकर्णको जगावें ॥

महोदरः-यदाज्ञापयति देव इतिनिष्क्रम्य कुम्भकर्णनिद्रालयं जगाम ।

महोदर—जो आज्ञा महाराजकी, यह कहकर तहाँसे उठकर कुम्भकर्णके शयन करनेके महलमें गया ॥

तत्र कुम्भकर्णप्रिया—

विरम विरम तूर्णं कुम्भकर्णस्य कर्णा-
न्नखलु तव निनादैरेष निद्रां जहाति ।
इति कथयति काचित्प्रेयसी प्रेक्ष्यमाणा
मशकगलकरन्ध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम् ॥ १४ ॥

वहाँ कुम्भकर्णकी स्त्री कहनेलगी कि—हे महोदर ! तू कुम्भकर्णके कानोंके समीपसे शीघ्र ही हटजा, हटजा, हटजा, यह तेरे शब्दोंसे निद्राको नहीं त्यागेंगे, इसप्रकार कुम्भकर्णकी कोई स्त्री कह रही थी कि—इतनेमें ही इसके गलेके छेदमेंको हाथियोंका झुंड मच्छरोंकी समान घुसगया—परन्तु इसकी नींद तो भी नहीं छूटी ॥ १४ ॥

निद्रां तथापि न जहौ यदि कुम्भकर्णः
श्रीकण्ठलब्धवरकिन्नरकामिनीनाम् ।
गन्धर्वयक्षसुरसिद्धवराङ्गनाना-
माकर्ण्य गीतममृतं परमं विनिद्रः ॥ १५ ॥

जब इतने पर भी कुम्भकर्णने नींदको नहीं छोडा तब शिवजीके वरदानके प्रभावसे पाईहुई किन्नरोंकी स्त्रियोंके और गन्धर्व यक्ष देवता सिद्धादिकोंकी रमणियोंके अमृतसमान गानको खूब सुनकर निद्रासे जागा ॥ १५ ॥

स्वकटके मारुतिः—

जृम्भासंभारभीमभ्रुकुटितटनटत्कुम्भकर्णाट्टहास-
व्यासव्याकोशवक्त्रव्यतिकरचकितप्राणिपुण्यप्ररोहः ।

लीलालोलन्मृणालीमृदुमिथिलसुतासङ्गभूपालहंसः
पायात्सिन्दूरपूर्वाचलशिखरशिरःशेखरो रामचन्द्रः॥ १६॥

अपने सेनादलमें हनुमान्जी कहनेलगे कि—जँभाईके लेनेसे अत्यन्त भयानक भृकुटियोंके समीप प्रकट होतेहुए कुम्भकर्णके अट्टहासके विस्तारसे युक्त मध्यभागवाले मुखको देखकर " यह क्या है " इस प्रकार चकित होतेहुए प्राणियोंको पुण्यांकुर अर्थात् अभय देनेवाले तथा लीलासे चंचल कमलिनीकी समान कोमल जनकसुताके संगमें राजहंस वा सिंदूरकी समान लालवर्ण उदयाचल पर्वतके शिखरमें स्थिर सूर्यकी तुल्य सूर्यकुलकेतु श्रीरामचन्द्रजी सबकी रक्षा करें ॥ १६ ॥

लंकायां कुम्भकर्णः—

सुप्तोत्थितः कवलयन् पलशैलजालं
तीव्रासवं परिपिबन्नपि कुम्भकर्णः ।
तृप्तिं जगाम न तथेत्यवदत् सुराया
गंगां पिबामि यमुनां सह सागरेण ॥ १७ ॥

लंकामें कुम्भकर्ण—शयनसे उठने पर मांसके पर्वतोंके समूहोंको निगलताहुआ और तीव्र मद्यको पीताहुआ जब तृप्त न हुवा तब यह बोला कि—यदि मद्यके समुद्र सहित गंगा और यमुना हो तो उसको भी पीजाऊँगा ॥ १७ ॥

स्वकटके रामः—

उपस्थितं वीक्ष्य तमाह रामो लंकाशिरोनिर्मितजानुदघ्नम् ।
भो मारुते यन्त्रमुदस्तमेतत्किन्नेत्यवादीत्स च कुम्भकर्णः ॥ १८ ॥

अपने सेनादलमें रामचन्द्रजी इस प्रकार कहनेलगे कि—हे पवनकुमार ! लंकाके शिखरों तक बनीहुई जाँघोवाली यह क्या कोई कल है ? यह सुनकर हनुमान्जीने कहा कि—नहीं महाराज ! यह तो कुम्भकर्ण है ॥ १८ ॥

कुम्भकर्णः-(रावणसमीपभागमागम्य) भो राजन् !

यद्यपि क्षितिपालानामाज्ञा सर्वत्रगा स्वयम् ।
तथापि शास्त्रदीपेन संचलन्त्यवनीश्वराः ॥ १९ ॥

(रामाय जानकी दीयतामित्यभिप्रायः)

कुम्भकर्ण-(रावणके पास आकर) हे राजन् ! यद्यपि भूपालोंकी आज्ञा स्वयंही सर्वत्र मानीजाती है तथापि राजाओंको उचित है कि-शास्त्ररूपी दीपकके सहारेसे चलैं अर्थात् ऐसा कहनेमें कुम्भकर्णका यह अभिप्राय है कि-रामचन्द्रको जानकी देदेनी चाहिये ॥ १९ ॥

रावणः-

इदं भ्रातृवचः श्रुत्वा तथेत्याह दशाननः ।
शास्त्रनिःसंशया वाचः सतां कस्य न वल्लभाः ॥ २० ॥

(रावण) भाई कुंभकर्णके इस वचनको सुनकर दशग्रीव रावण बोला कि-हाँ हाँ ऐसा ही है । सज्जनोंकी शास्त्रसे निश्चय कीहुई वाणियें किसको प्यारी नहीं लगतीं ? अर्थात् जो तुम्हारा आज्ञा है कि-जानकीको देदो सो तो मुझसे सभी कोई कहते हैं ॥ २० ॥

जानकीं न समर्पयामीत्यभिप्रायाद्रावणः-(सावज्ञम्)

(जानकीको नहीं दूँगा इस आशयसे रावण-अनादरके साथ)

उत्क्षिप्तस्फटिकाचलेन्द्रशिखरश्रेणीनिघृष्टाङ्गदै-
रेभिः पीनतरैः सुरासुरभयप्राप्तप्रतिष्ठैर्भुजैः ।
संग्रामे मम कुम्भकर्ण विजयः किं त्वद्भुजाडम्बरः ।
प्रत्याशाशिथिलोस्म्यहं व्रज पुनः स्वापाय निद्रालयम् ॥ २१ ॥

उठाएहुए कैलास पर्वतके शिखरोंकी पंक्तियोंसे घिसगये हैं बाजूबन्द जिनके तथा देवता और राक्षसोंको भय देनेसे प्रतिष्ठा पानेवाली इन मेरी पुष्ट भुजाओंसे ही संग्राममें विजय होसकता है, हे कुम्भकर्ण ! इनके समान तुम्हारी भुजाओंकी शक्ति ही

क्या है ? अब तुमसे मेरी सब आशायें ढीली पडगई तुम अपने शयनागारमें जाकर फिर सुखसे सोरहो ॥ २१ ॥

कुम्भकर्णो भीममालम्ब्य–

राजन्मागा विषादं परिहर बलवद्विद्विषः शोकशल्यं
कल्याणान्याश्रयन्तामहमहमिकया नो भवन्तं जहामि ।
कः कालः को विधाता किमरिकुलभयं को यमः के च याम्याः
को रामः के कपीन्द्राश्चलति मयि रणे रोषिते कुम्भकर्णे ॥२२॥

कुम्भकर्ण--(भयानक आकृति बनाकर) हे राजन् ! तुम विषाद न मानो बली शत्रुके शोकशूलको त्याग दो और आनन्दोंमें मग्न रहो पहिले मैं अकेला ही रणभूमिमें जाऊँगा, तुमसे अगल नहीं होऊँगा । जिस समय मैं कुम्भकर्ण क्रोध करके संग्राममें गया उस समय मेरे सामने काल भी क्या है ? और शत्रुसमूहका तो भय ही क्या करना । यम भी क्या वस्तु है ? यमके दूत तो हैं ही क्या ? फिर रामचन्द्र और वानरसेनापतियोंसे तो डरना ही क्या ? ॥ २२ ॥

रावणः (सानन्दं) महाबलपराक्रमै राक्षसभटैः
परिवृतो रणशाङ्गणेऽवतरतु वत्सः ।

रावण (आनन्दित होकर) हे भाई ! अतिबलवान् और पराक्रमी शूर वीर राक्षसोंको साथ लेकर समरभूमिमें जाओ ॥

कुम्भकर्णः । (साक्षेपं) तथा कृत्वा–

अयि कपिकुलमल्लाः किं मुधा यात भीता
नहि जगति भवद्भिर्युध्यते कुम्भकर्णः ।
अपि जलधरपोतो लेढि किं स्वल्पकुल्या
मपि मशककुटुम्बं केसरी किं पिनष्टि ॥ २३ ॥

कुम्भकर्ण–(आक्षेपके साथ) रावणके कहनेके अनुसार राक्षसवीरोंके साथ संग्रामभूमिमें प्रवेश करके कहनेलगा कि–वानरकुलोंके वीरो ! तुम वृथा ही डरकर

क्यों भागते हो संग्रामभूमिमें कुम्भकर्ण तुमसे युद्ध नहीं करैगा क्या कहीं छोटेसे छोटा भी मेघ छोटीसी नदीको चाटता है ? कदापि नहीं और कहीं शेर भी मच्छरके झुंडोंको मसलता है ? कभी नहीं ॥ २३ ॥

अपि च--नाहं वाली सुबाहुर्न खरत्रिशिरसौ[1] दूषणस्ताटकाहं
नाहं सेतुः समुद्रे न च धनुरपि यत्त्र्यम्बकस्य त्वयात्तम् ।
रेरे राम प्रतापानलकवलमहाकालमूर्त्तिः किलाहं
वीराणांमौलिशल्यः समरभुविचरः संस्थितः कुम्भकर्णः॥ २४ ॥

और भी—अरे ओ राम ! मैं वाली नहीं हूँ, न मैं सुबाहु हूँ तथा खर त्रिशिरा भी मैं नहीं हूँ, दूषण और ताडका भी मैं नहीं हूँ, सागरका पुल भी नहीं हूँ, जिसको तुमने तोडडाला है वह शिवका धनुष भी मैं नहीं हूँ । किन्तु तेरी प्रतापरूपी अग्निके भक्षण करनेको महाकालरूप मूर्तिवाला, वीर पुरुषोंके माथेको काटनेके निमित्त त्रिशूलरूप कुम्भकर्ण समरभूमिमें आकर उपस्थित हुआ हूँ ॥ २४ ॥

(ततो गगनमुत्पत्य)

सुग्रीवं बाहुमूले प्लवगबलपतिं कण्ठदेशे भुजेन
क्षिप्त्वा निष्पीड्य गाढं रजनिचरपुरीं संदधानो जगाम ।
सानन्दं कुम्भकर्णस्तदनु कपिभटस्तस्य तूर्णं सकर्णं
घ्राणं जग्ध्वा जगाम स्वशिबिरमुदरं कूर्परेणाभिहत्य ॥ २५ ॥

(इसके अनन्तर आकाशको उछलकर) वानरपति सुग्रीवको बगलमें पीचकर और फिर मूर्च्छित समझ भुजासे कण्ठमें डालकर कुम्भकर्ण सीध बाँधेहुए आनन्दके साथ राक्षसपुरी लंकाको चलदिया तदनन्तर वानरवीर सुग्रीव उसके कान और नाकको काटकर तथा उसके पेट पर कौनीसे प्रहार करके तत्काल अपनी सेनाके लश्करमें चलागया ॥ २५ ॥

---

१ म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा सा प्रसिद्धा, इतिलक्षणानुरोधेन खरत्रिशिरसौेति पदे छन्दोभंगः कस्य प्रमादेन निपतित इति न ज्ञायते ।

निःश्वस्योत्सृज्य बाष्पं नयनकमलयोश्चात्मनो वारि दत्त्वा
कृत्वा लंकोपगूढं सकरुणमपुनर्भावि नीत्वा त्रिशूलम्।
क्रोधान्धः कालमूर्तिः प्रलयहुतवहाङ्गारनेत्रो विकर्ण-
श्छिन्नघ्राणोऽवतीर्णः पुनरपि समरप्राङ्गणे कुम्भकर्णः ॥२६॥

कुम्भकर्ण श्वास लेकर और अपने नेत्रकमलोंसे आँसुओंको वर्षाकर मानो आपही अपना जलदान करके तथा करुणाके साथ फिर दूसरीवार न होनेवाले लंकाके आलिङ्गनको करके त्रिशूल ले क्रोधसे अन्धा हुआ कालकीसी मूर्त्ति धारे प्रलयकी अग्निके अंगारोंकी समान लाल २ नेत्रोंवाला नाककटा और कानोंसे बूचा कुम्भकर्ण फिर भी समरभूमिमें आपहुँचा ॥ २६ ॥

तं दृष्ट्वा जीविताशं गिरिवरकुहरं त्रस्तचित्ताः कपीन्द्राः
केचित्पादान्तवातप्रचलितपवनान्दोलिताः खे चरन्ति।
केचिद्दोर्दण्डचण्डभ्रमणनिपतिताः शोणितान्युद्गिरन्ति
प्राणान् केचित् प्रवीराःकथमपि दधति स्फीतफूत्कारभिन्नाः२७

जीवित प्राणियोंका भक्षण करनेवाले, विकटरूप उस कुम्भकर्णको देखकर चित्तमें डरेहुए वानर पहाडोंकी गुफाओंमें घुसगए कितने ही उसके चरणोंकी अंगुलियोंसे चलेहुए वेगवान् वायुसे उडकर आकाशमें चलेगये और कितने ही वानर प्रचण्ड भुजदण्डोंको घुमानेसे पृथ्वीमें गिरकर मुखसे लोहू उगलनेलगे तथा कितने ही वानर लम्बी २ फुंकारोंसे विदीर्ण होकर बडीकठिनाईसे प्राण धारण करने को समर्थ हुए ॥ २७ ॥

उत्क्षिप्य शूलमजयं त्रिपुरान्तकस्य
संहारकेतुमिव कोटितडित्प्रभाभिः।
घोरं ज्वलन्तमुरसि क्षिपति स्म रक्ष-
स्तारापतेस्तदिषुणा रघुणा निरस्तम् ॥ २८ ॥

राक्षस कुम्भकर्णने अजेय और करोडों विजलियोंकी प्रभाओंसे वडे देदीप्यमान और शिवजीके प्रलयके त्रिशूलकी समान एक त्रिशूल उठाकर सुग्रीवके वक्षःस्थलपर छोडा उसी समय रामचन्द्रजीने उस त्रिशूलको अपने वाणसे काटडाला ॥ २८ ॥

क्रोधाग्नेर्जाठराग्नेः कपिशिबिरगतो मुद्गरं व्याददानो
वक्त्रे निक्षिप्य कोटिं कवलयति भटानुत्कटान्कुंभकर्णः ।
कांश्चित्पद्भ्यां पिनष्टि श्वसनसहचरा वानराः कर्णरन्ध्रा-
न्निर्गच्छन्त्येक एतान्पुनरपि दशनैश्चर्वितानत्ति घोरम् ॥ २९ ॥

क्रोधाग्निके कारण मुखकी ज्वाला प्रवल होने पर वह कुम्भकर्ण मुद्गरको तानेहुए वानरोंके कटकमें गया और करोडों उत्कट योद्धाओंको मुखमें डालकर चवानेलगा और किन्हीं वानरोंको पैरोंसे कुचलनेलगा। उस समय कितने ही वानर साँसके साथ कानोंके छिद्रोंसे होकर वाहरको निकलनेलगे, तव इन निकलेहुओंको फिर भी पकड २ कर वडी भयानकताके साथ दाँतोंसे चाव चावकर खानेलगा ॥ २९ ॥

सव्येन सान्द्रशिबिरं स्वकरेण धुन्व-
न्व्यात्ताननस्य कटकं तत उत्तरेण ।
सुग्रीवमेव कपिवीरवरेषु सत्सु
जग्राह कोपकलितो युधि कुम्भकर्णः ॥ ३० ॥

तदनन्तर उस कुम्भकर्णने अपने वायें हाथसे सघन सेनाको तितर वितर करते हुए दायें हाथसे क्रोधमें भरकर रणभूमिमें वडे २ वीर वानरोंके विद्यमान होतेहुए भी सुग्रीवको ही पकडा क्योंकि सुग्रीवने नाक कान काटे थे ॥ ३० ॥

तातं विलोक्य विषमस्थमथांगदस्तं
गारुत्मतेन भुवि पातयतिस्म शत्रुम् ।
मुक्तोऽपि निःश्वसति यावदसौ कपीन्द्र-
स्तावद्ववन्ध नरसिंहपदाङ्गदं सः ॥ ३१ ॥

अङ्गदने अपने चाचा सुग्रीवको बडे संकटमें पडा हुआ देखकर गरुड पाश चलाया जिससे कि शत्रु कुम्भकर्णको पृथ्वीपर गिरादिया, उस समय ज्योंही छूटे हुए सुग्रीवको जरा चेतना हुई इतनेमें ही वह कुम्भकर्ण फिर बैठा होगया और उसने नृसिंहपाशसे अङ्गदको भी बाँधलिया ॥ ३१ ॥

दृष्ट्वा नीलस्तदुभयमपि ग्रस्तमाक्रम्य रक्षः-
स्कंधे मौलौ श्रवणकुहरे घ्राणवक्त्रोदरेषु ।
तीव्रज्वालो दहति कुपितः स्वेन रूपेण वीरः
क्रव्यादोऽभूत्तदनु विकलः प्रोत्थितौ वानरेन्द्रौ ॥ ३२ ॥

उन सुग्रीव और अङ्गद दोनोंको बँधाहुआ देखकर नीलको क्रोध आगया उसने कुम्भकर्णके ऊपर आक्रमण किया और वह अपने अग्निरूपकी तीखी लपटोंसे राक्षस कुम्भकर्णके कन्धे शिर कानोंके छिद्र, और नासिकाके छिद्र, मुख तथा पेटको भस्म करनेलगा, तब राक्षस कुम्भकर्ण बडा व्याकुल हुआ और वानरराज सुग्रीव तथा अंगद उठकर खडे होगये ॥ ३२ ॥

लंकाशिरःस्थो रावणः—

लंकेश्वरस्तमवलोक्य रणे ज्वलन्तं
कादम्बिनीसहचरामृतवारिधाराम् ।
तूर्णं मुमोच तदुपर्युपलब्धसंज्ञो
भोक्तुं कृतान्त इव नीलनलौ स दध्यौ ॥ ३३ ॥

रावण—(लंकाके शिरपर बैठाहुआ) रणभूमिमें उस कुम्भकर्णको जलते हुए देखकर लंकेश्वरने तत्काल मेघमालाओं सहित अमृतरूपी जलकी धाराओं उसके ऊपर छोडा तब तो चेतनताको प्राप्त हुआ वह कुंभकर्ण साक्षात् काल समान नील और नलको खानेके लिये विचार करनेलगा ॥ ३३ ॥

जाम्बवान्—

दम्भोलिं कुम्भकर्णं गिरिमिव तरसा पातयत्रानुबन्धं
कण्ठं गाढं विरच्य स्वभुजगुरुमदं जाम्बवानुग्रवेपः ।

निर्मुक्तौ तावभूतामभवदथ मरुत्पुष्पवृष्टिस्तदङ्गे
गुल्फाघातेन रोषाद्रजनिचरवरस्तन्निरस्योपतस्थौ ॥ ३४ ॥

जाम्बवान्-(अति कोपके कारण उग्रवेषधारी जाम्बवान्) ने वडी शीघ्रताके साथ अपनी जंघाओंके प्रहारसे उस पर्वत और वज्रसमान कुंभकर्णको गिरादिया तथा जिसको अपनी भुजाओंका वडाभारी मद है ऐसे उस जाम्बवान्ने जोरसे गर्दन पकडली, वह नील और नल दोनों छूटगये जाम्बवान्के ऊपर उस समय देवताओंने पुष्प वर्षाये इतनेमें ही कुंभकर्णने क्रोधमें भरकर एक लात मारकर जाम्बवान्को ढकेलदिया और उठकर खडा होगया ॥ ३४ ॥

आलक्षितो रघुवरेण सलक्ष्मणेन
कालान्तकादिव रिपोः परिशङ्कितेन ।
स्थानं जगाम हनुमान्समरेऽवतीर्य
महेश उग्रनरसिंह इवारुणाक्षः ॥ ३५ ॥

प्रलयकर्त्ता यमराजकी समान वानरसेनाको उजाडतेहुए शत्रुसे शंकितसे हुए लक्ष्मणके सहित श्रीरामचन्द्रजीने रुद्रावतार हनुमान्जीकी ओरको देखा वह महावीर उसी समय उग्र नृसिंहकी समान लाल २ नेत्र किये रणभूमिमें आये ॥ ३५ ॥

मैनाको मेरुशृङ्गस्थित इव हनुमत्पाणिपद्मे नगेन्द्रः
कल्पान्ते मन्दराग्रेऽजन इव समरे मुद्गरः कुम्भकर्णे ।
अद्रिं क्रव्यादवीरः प्रहितमनिलजेनाच्छिनन्मुद्गरेण
लांगूलेनाञ्जनेयोद्धतजनितरुषा मुद्गरं द्राक् चकर्ष ॥ ३६ ॥

उस समय हनुमान्जीके कर कमलमें स्थित पर्वत मेरु पर्वतपर स्थित मैनाककी समान शोभाको प्राप्त हुआ और वडे २ समर्थ वीरोंकी समाप्ति जिसमें हो ऐसे तिस समरमें कुम्भकर्णके हाथमेंका मुद्गर मंदराचल पर भगवान्की मूर्तिकी समान शोभाको प्राप्त हुआ, उस समय अंजनीकुमारके फेंकेहुए पर्वतको राक्षस वीर कुम्भकर्णने अपने मुद्गरसे टुकडे २ करडाला, तब तो हनुमान्जीने वडे क्रोधमें भर उसी समय अपनी पूँछसे मुद्गरको खींचलिया ॥ ३६ ॥

रामः ।

अत्रान्तरे रघुपतिः शरयुग्ममैन्द्रं
द्राक्कुम्भकर्णनिधनाय रणे मुमोच ।
भित्त्वा विभेद हृदयं धरणीमथैको
मूर्धानमुद्धतमखण्डयदस्य चान्यः ॥ ३७ ॥

इतनेमें ही रघुनाथजीने शीघ्रतासे इन्द्रके दियेहुए दो वाण रणमें कुम्भकर्णके मारनेके लिये छोडे उनमेंसे एक वाण कुम्भकर्णके हृदयको फोडकर भूमिमें घुसगया और दूसरे वाणने इस कुम्भकर्णके उद्धत मूर्धाको फोडकर खोपडीके टुकडे २ करदिये ॥ ३७ ॥

हनुमान् ।

उद्यन्मरुत्तनयचण्डचपेटघाता-
न्मूर्धा पपात तुहिने रजनीचरस्य ।
भग्नो भविष्यति यदम्भसि भीमसेनो
बभ्राम पुच्छनिकृतो गगने कबन्धः ॥ ३८ ॥

उद्यतहुए पवनकुमारके प्रचण्ड चपेटेकी चोटसे कुम्भकर्णका शिर हिमालयमें जाकर पडा, जिसके जलमें भीमसेन गोता खायगा और पूँछसे कटाहुवा धड आकाशमें जाकर घूमनेलगा ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणः—

देवाः सर्वे विमानान्यपनयत रवेः स्यन्दनो यातु दूरं
रे रे शाखामृगेन्द्राः परिहरत रणप्राङ्गणं राक्षसाश्च ।
वज्त्रत्रस्ताञ्जनाद्रिप्रतिनिधिरवधिः सर्वविस्मापकानां
लंकातङ्कैकहेतुर्निपतति नभसः कौम्भकर्णः कबन्धः ॥ ३९ ॥

(नेपथ्यमें) अरे सकल देवताओ विमानोंको हटाओ. सूर्यका रथ दूर हटजाय, अरे अरे वानरो ! और राक्षसो ! रणभूमिको छोडकर हटजाओ, वज्रसे घवडाये हुए

अंजनाद्रिकी समान सकल आश्चर्योंकी सीमा, लंकाके अशकुनका अद्वितीय कारण कुंभकर्णका धड आकाशसे गिरता है ॥ ३९ ॥

(मृतः कुंभकर्णः)

उत्क्रान्तोऽपि स्वदेहात्प्रवरसुरवधूदोर्भिराकृष्यमाणः
प्राणत्राणाय भर्तुः पुनरपि समरापेक्षया नारुरोह ।
संगीतैर्नारदाद्यैर्मृदुमुरजरवैः स्तूयमानो विमानं
वीरः संग्रामधीरः शिव शिव स कथं वर्ण्यते कुम्भकर्णः ॥ ४० ॥

अपने शरीरसे प्राणोंके अलग होने पर जब कुंभकर्णको विमान पर बैठालनेके लिये सुन्दर देवांगना अपने भुजाओंसे खींचने लगीं सुन्दर गान करनेवाले नारदादि कोमल मुरज आदि बाजोंसे स्तुति करने लगे, तब भी अपने स्वामी रावणके प्राणोंकी रक्षाके लिये विमान पर चढनेकी इच्छा न की, हे शिव ! हे शिव ! ऐसे संग्रामधीर-वीर कुंभकर्णका वर्णन कौन कर सकता है? ॥ ४० ॥

लङ्काशिखरस्थो रावणः-(सविस्मयम्)

मरुच्चन्द्रादित्याः शतमुखमुखास्ते क्रतुभुजः
पुरद्वारे यस्याः सभयमुपसर्पन्त्यनुदिनम् ।
प्रकोपव्याकम्पाधरतटपुटैर्वानरभटैः
समाक्रान्ता सेयं शिव शिव दशग्रीवनगरी ॥ ४१ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके कुम्भकर्णवधोनामैकादशोऽङ्कः ॥ ११ ॥

(लंकाके शिखर पर बैठाहुवा रावण विस्मयके साथ)

पवन, चन्द्रमा, आदित्य, और इन्द्र आदि देवता जिस नगरीके द्वार पर प्रतिदिन भयभीत हुए टहला करते हैं हे शिव ! हे शिव ! वही मुझ दशग्रीवकी यह लंका नगरी क्रोधसे कंपायमान ओठ और नथौड वाले वानर वीरोंने घेरली ॥ ४१ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके भाषाटीकायां कुंभकर्णवधो नामैकादशोऽङ्कः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽङ्कः-

रावणः सक्रोधं-तूर्णं पूर्णकटकं पुत्रमिन्द्रजितं दुष्करसमरयज्ञे अध्वर्युं वृणोति स्म इन्द्रजित्सत्वरं कुम्भकर्णवधामर्षमूर्च्छितः सीतापतिवधे बद्धलक्ष्यः समरचत्वरेऽवतीर्णः । इतो-लक्ष्मणो धनुर्गुणटणत्कारैर्धरणिगगनान्तरमापूरयन्को-पानलज्वालावलीभिः सलङ्काधिपां लङ्कां कवलयन्वीर-समरनासीरेवतरति स्म ।

(रावणने क्रोधमें भरकर) उसी समय बडी भारी फौजके साथ पुत्र मेघनादको वीर संग्रामरूपी यज्ञमें यज्ञकर्त्ता बनाकर भेजा, मेघनाद शीघ्र कुम्भकर्णके वधके कारण क्रोध करके आपेसे बाहर हुआ सीतापति रामका वध करनेके लिये निशाना ताकता हुआ रणभूमिमें आया-इधर लक्ष्मणजी धनुषके रोदेकी टंकारोंसे पृथ्वी और आकाशके मध्यभागको भरतेहुए और क्रोधाग्निकी अनेकों लपटों करके रावणसहित लंकाको निगलते हुएसे सेनाके आगे आये ॥

रावणिः-(लक्ष्मणमवलोक्य)

नाहं सौमित्रिकोपस्य जानेऽल्पमपि कारणम् ।
नूनं चञ्चलबुद्धीनां स्नेहकोपावकारणौ ॥ १ ॥

मेघनाद-(लक्ष्मणको देखकर) मुझे जो लक्ष्मणके ऊपर क्रोध आरहा है, उसका मुझे कोई जरासा भी कारण नहीं मालूम कि-मैं जिस कारणसे इसका वध करूँ और यह जो लक्ष्मण मेरे ऊपर कुपित होरहा है सो निःसंदेह ऐसे चंचलबुद्धिवालोंके विना ही कारण स्नेह और कोप होजाते हैं ॥ १ ॥

अपिच-

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयो भिन्नशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।

सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किंचिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥ २ ॥

(और भी) यह छोटे २ वानर भयको छोडदें, क्योंकि–इन्द्रके ऐरावत हाथीके गण्डस्थलोंके फोडनेवाले मेरे बाण तुम्हारे शरीरों पर गिरते परम लज्जितसे होते हैं, हे लक्ष्मण! तुम भी आराम करो, क्योंकि तुम मेरे क्रोधके पात्र नहीं हो मैं मेघनाद हूँ और कुछेक भौं चलानेकी लीलासे ही समुद्रका पुल बाँधनेवाले रामको ही खोजता हूं ॥२॥

सुग्रीवमारुतिनलाङ्गदनीलमुख्या
बाष्पान्धकारजलदान्तरितं प्रचण्डम् ।
तं रावणिं जलदमण्डलमास्थितं नो
पश्यन्ति तान्प्रहरति स्म स घोरबाणैः ॥ ३ ॥

सुग्रीव, पवनकुमार, नल, अङ्गद और नील आदि वानरोंने कुहर और अन्धकारयुक्त मेघमण्डलसे छिपेहुए उस प्रचण्ड रावणकुमार मेघनादको नहीं देखपाया, और वह मेघमण्डलकी ओटमें स्थित हुवा घोर बाणोंसे इन सबके ऊपर प्रहार करनेलगा ॥३॥

मायारथं समधिरुह्य नभःस्थलस्थो
गम्भीरकालजलदध्वनिरुज्जगर्ज ।
बाणैरपातयदहो फणिपाशबद्धै-
स्तौ मेरुमन्दरगिरी पविनेव शक्रः ॥ ४ ॥

आकाशमें स्थित वह मेघनाद मायाके रचेहुए रथ पर चढकर प्रलयकालके मेघकी गर्जनाकी समान बडी गम्भीरताके साथ गर्जा और आश्चर्य्यकी बात है कि जैसे इन्द्रने अपने वज्रसे मेरु और मन्दराचलको गिरादिया था तैसे ही मेघनादने नागपाशरूप बाणोंसे उन राम और लक्ष्मण दोनों को बाँधदिया ॥ ४ ॥

अत्रान्तरे पूर्ववैरमनुस्मरन्ती चक्रवाकी सरोवरस्था–
([1]शशाप यो मे दयितं स रामः

---

१ यह मूलका श्लोक नहीं है समस्यापूर्ति है ।

सलक्ष्मणो रावणिबाणजालैः ।
रणे हतोऽयं मदमुद्वहन्ती
चन्द्रोदये नृत्यति चक्रवाकी ॥ ५ ॥)

(इसी अवसरमें सरोवरमें स्थित चकवी पहिले वैरको स्मरण करती हुई कहने लगी) जिसने मेरे पतिको शाप दिया था वह राम लक्ष्मण सहित मेघनादके बाणोंके समूहों करके रणमें मारागया ऐसा कहके आनन्दित होकर चकवी चन्द्रोदयमें नृत्य करती है ॥ ५ ॥

सरमा-

श्रुत्वा हतिं दशरथात्मजयोर्विमान-
मारुह्य पुष्पकमवाप्य दशाननस्य ।
आज्ञां निनाय सरमा जनकस्य पुत्रीं
सीताविदीर्णहृदयासि दिवं गतासि ॥ ६ ॥

दशरथकुमारोंके बन्धनको सुनकर और दशाननकी आज्ञा पाकर सीताके कारण जिसका हृदय विदीर्ण होरहा है ऐसी सरमा जनककुमारीको पुष्पक विमानमें बैठाकर संग्रामभूमिमें लेगई ॥ ६ ॥

जानकी-

किं भार्गवच्यवनगौतमकाश्यपानां
वाणी वसिष्ठमुनिलोमशकौशिकानाम् ।
जाताऽनृताप्यहह आलपिता त्वया मे
स्यान्मग्नचूचुककुचा सधवेति राम ॥ ७ ॥

(जानकी) क्या भार्गव, च्यवन, गौतम, काश्यप, वशिष्ट, मुनि लोमश, और विश्वामित्रजीकी कही वह वाणी झूँठी होगई, हा ! हा ! राम उन्होंने मुझसे कहा था कि-हे जानकी ! तेरा कुचाग्रभाग मग्न होरहा है, इस कारण तू सौभाग्यवती होगी, और रामचन्द्रसे तेरा कभी वियोग नहीं होगा ॥ ७ ॥

हा राघव प्रियतम स्फुरतीह वामो
बाहुस्तथा नयनमप्यनृतं किमेतत् ।
नाद्यापि यन्मधुरनिर्मलदृष्टिपातैः
संभावयस्यपि विलासगिरा भुजाभ्याम् ॥ ८ ॥

हा राघव ! हा परम प्रिय ! मेरी बाँई भुजा और नेत्र फडकते हैं, क्या यह सब झूँठा ही है, जो कि तुम अभीतक मुझको मधुर निर्मल दृष्टिपात विलासकी वाणी और भुजाओंसे सुख नहीं देते हो ॥ ८ ॥

उक्तं च यतः–

संमानितापि न तथा मुदमभ्युपैति
मात्रानुजेन जनकेन तथाग्रजेन ।
आश्वासितापि रमणी रमणेन तूर्णं
प्रेम्णा यथा मधुरनिर्मलदृष्टिपातैः ॥ ९ ॥

(कहा भी है कि–) स्त्री अपनी माता, छोटे भाई, पिता, और बडे भाई करके खूब आदरकी हुई भी तैसा आनन्द नहीं पाती कि–जैसा पतिके द्वारा प्रेमपूर्वक समझाईहुई और मधुर निर्मल दृष्टिपातोंसे प्रसन्न कीहुई आनन्द पाती है ॥ ९ ॥

प्राणेश्वरः प्रतिगिरं न ददाति रामो
हा वत्स लक्ष्मण ममापनयेन रुष्टः ।
मद्वत्सलस्त्वमपि नोत्तरमाददासि
भ्रान्त्वा भुवं मम कृतेऽथ दिवं गतौ वा ॥ १० ॥

हे प्राणेश्वर ! राम ! उत्तर नहीं देते, हा ! वत्स लक्ष्मण ! क्या तुम मेरे अलग होनेसे रुष्ट होगये ? तुम तो मुझसे बडा प्रेम करते थे, तुम भी मुझे उत्तर क्यों नहीं देते, क्या इस सकल भूमण्डलमें घूमकर अब मेरे ही लिये स्वर्गमें ढूँढने लगे हो ! ॥ १० ॥

स्वर्गादिमौ झटिति मामवलोकयन्तौ
न ब्रह्मलोकमधिगच्छत एव तावत् ।
प्राणा दिवं व्रजत साधुगिरा मुमोच
श्वासानिलं जनकजा सह सङ्गरेण ॥ ११ ॥

रे प्राणो ! यह दोनों मुझे न पाकर तत्काल स्वर्गसे ब्रह्मलोकको न पहुँचजाय, इतनेमें ही तुम भी स्वर्गमें पहुँच जाओ, इसप्रकार जानकीने प्यारी वाणी कहकर समरभूमिके साथ अपनी श्वासवायुको छोडा ॥ ११ ॥

समरादपहृतं विमानं सरमया रावणभयादित्यभिप्रायः ।

अर्थात् सरमाने रावणके भयसे समरभूमिमेंसे विमानको हटालिया ॥

अत्र वैकुण्ठाद्गरुडः—

हाहाकारं निशम्य त्रिभुवनविदितं रावणेः कर्म घोरं
क्रोधाग्नेर्धूमधाटीदलितरिपुकुलं त्रासयन्राक्षसेन्द्रम् ।
पक्षाघातप्रचण्डप्रचलितपवनध्वस्तशैलेन्द्रपातैः
संप्राप्तो वैनतेयः स्रवदमृतरसो जीवयामास रामम् ॥ १२ ॥

(इसी अवसरमें वैकुण्ठसे गरुडजी) त्रिलोकीमें प्रसिद्ध मेघनादके घोर कर्म और हाहाकारको सुनकर क्रोधाग्निके परम धुएँसे नष्टहुआ है शत्रुकुल जिनका ऐसे, तथा राक्षसराज रावणको भयभीत करतेहुए एवं परोंके चलानेसे चलतेहुए प्रचण्डपवनसे पर्वतोंको तोडते और गिरातेहुए गरुडजी आयपहुँचे और अमृतरस चुआकर श्रीरामचन्द्रजीको सचेत करादिया ॥ १२ ॥

रावणिः—

(सभयं रणसंकटमुपलभ्य ससम्भ्रमम्—)
पापो विरच्य समरे जनकस्य पुत्रीं
हा राम राम रमणेति गिरं गिरन्तीम् ।

खड्गेन पश्यत वदन्निति रे प्रवीरा
मायामयीं शिवशिवेन्द्रजिदाजघान ॥ १३ ॥

मेघनाद-(भयभीत हुआ) संग्रामके संकटको प्राप्त होकर (माया फैलाता हुआ) हा ! राम ! हा रमण ! ऐसी वाणीको उच्चारण करती हुई जानकी-को रणभूमिमें मायासे रचकर अरे वीरो ! देखो इस प्रकार कहते हुए उस पापी मेघनादने शिव ! शिव ! तलवारसे उस मायाकी रची हुई सीताका वध किया ॥ १३ ॥

द्विधा कृतां तां पुनराददानो मायारथस्थोऽम्बरवर्त्मना च ।
ब्रह्मोपदेशात्स निकुम्भिलाद्रेर्न्यग्रोधमूलावटमाजगाम ॥ १४ ॥

फिर दो टुकडे की हुई उस मायाकी रची सीताको लेकर मायाके रथमें वैठा हुआ ब्रह्माके कहनेसे आकाशमार्गके द्वारा निकुंभिल पर्वतके ऊपर वडके वृक्षकी जडमें वनेहुए कुण्डमें अनुष्ठान करनेको गया ॥ १४ ॥

(समरचत्वरे) रामः-

दृष्ट्वा मायाजनकतनयाखण्डनं रामचन्द्रो
गुर्वीमुर्वीतलमुपगतो दीर्घमासाद्य मूर्च्छाम् ।
तत्पादाग्रे पुनरनुजनिश्चेतनां प्राप्य रामं
कृत्वोत्संगे स्मरसि न गिरं व्याहरन्नित्यरोदीत् ॥ १५ ॥

(समर भूमिमें रामचन्द्र) मायासे रचीहुई जानकीके टुकडे २ देखकर रामचन्द्रजी वडी भारी मूर्च्छनाको पाकर पृथ्वीमें गिरपडे, तव उनके चरणोंके समीप लक्ष्मणजी धीरता और चेतनाको धारे हुए रामचन्द्रको गोदीमें वैठाकर क्या आप " अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः " इस वेद वाणीको स्मरण नहीं करते हैं ? ऐसा कहते हुए रोने लगे ॥ १५ ॥

लक्ष्मणः-

सिंचत्येनं विकचनलिनीगर्भनिर्मुक्तवारा
धारासारैर्मलयजरसै रामधर्मोऽप्रमाणम् ।

स्वर्गादिमौ झटिति मानवलोकयन्तौ
न ब्रह्मलोकमधिगच्छत एव तावत् ।
प्राणा दिवं व्रजत साधुगिरा मुमोच
श्वासानिलं जनकजा सह सङ्गरेण ॥ ११ ॥

रे प्राणो ! यह दोनों मुझे न पाकर तत्काल स्वर्गसे ब्रह्मलोकको न पहुँचजाय, इतनेमें ही तुम भी स्वर्गमें पहुँच जाओ, इसप्रकार जानकीने प्यारी वाणी कहकर समरभूमिके साथ अपनी श्वासवायुको छोडा ॥ ११ ॥

समरादपहृतं विमानं सरमया रावणभयादित्यभिप्रायः ।

अर्थात् सरमाने रावणके भयसे समरभूमिमेंसे विमानको हटालिया ॥

अत्र वैकुण्ठाद्गरुडः—

हाहाकारं निशम्य त्रिभुवनविदितं रावणेः कर्म घोरं
क्रोधाग्नेर्धूमधाटीदलितरिपुकुलं त्रासयन्राक्षसेन्द्रम् ।
पक्षाघातप्रचण्डप्रचलितपवनध्वस्तशैलेन्द्रपातैः
संप्राप्तो वैनतेयः स्रवदमृतरसो जीवयामास रामम् ॥ १२ ॥

(इसी अवसरमें वैकुण्ठसे गरुडजी) त्रिलोकीमें प्रसिद्ध मेघनादके घोर कर्म और हाहाकारको सुनकर क्रोधाग्निके परम धुँएसे नष्टहुआ है शत्रुकुल जिनका ऐसे, तथा राक्षसराज रावणको भयभीत करतेहुए एवं परोंके चलानेसे चलतेहुए प्रचण्डपवनसे पर्वतोंको तोडते और गिरातेहुए गरुडजी आयपहुँचे और अमृतरस चुआकर श्रीरामचन्द्रजीको सचेत करादिया ॥ १२ ॥

रावणिः—

(सभयं रणसंकटमुपलभ्य सप्रपञ्चम्—)

पापो विरच्य समरे जनकस्य पुत्रीं
हा राम राम रमणेति गिरं गिरन्तीम् ।

खड्गेन पश्यत वदन्निति रे प्रवीरा
मायामयीं शिवशिवेन्द्रजिदाजघान ॥ १३ ॥

मेघनाद-(भयभीत हुआ) संग्रामके संकटको प्राप्त होकर (माया फैलाता हुआ) हा ! राम ! हा रमण ! ऐसी वाणीको उच्चारण करती हुई जानकी-को रणभूमिमें मायासे रचकर अरे वीरो ! देखो इस प्रकार कहते हुए उस पापी मेघनादने शिव ! शिव ! तलवारसे उस मायाकी रची हुई सीताका वध किया ॥ १३ ॥

द्विधा कृतां तां पुनराददानो मायारथस्थोऽम्बरवर्त्मना च ।
ब्रह्मोपदेशात्स निकुम्भिलाद्रेर्न्यग्रोधमूलावटमाजगाम ॥ १४ ॥

फिर दो टुकडे की हुई उस मायाकी रची सीताको लेकर मायाके रथमें बैठा हुआ ब्रह्माके कहनेसे आकाशमार्गके द्वारा निकुंभिल पर्वतके ऊपर वडके वृक्षकी जडमें वनेहुए कुण्डमें अनुष्ठान करनेको गया ॥ १४ ॥

(समरचत्वरे) रामः-

दृष्ट्वा मायाजनकतनयाखण्डनं रामचन्द्रो
गुर्वीमुर्वीतलमुपगतो दीर्घमासाद्य मूर्च्छाम् ।
तत्पादाग्रे पुनरनुजनिश्चेतनां प्राप्य रामं
कृत्वोत्संगे स्मरसि न गिरं व्याहरन्नित्यरोदीत् ॥ १५ ॥

(समर भूमिमें रामचन्द्र) मायासे रचीहुई जानकीके टुकडे २ देखकर रामच-न्द्रजी वडी भारी मूर्च्छनाको पाकर पृथ्वीमें गिरपडे, तव उनके चरणोंके समीप लक्ष्मणजी धीरता और चेतनाको धारे हुए रामचन्द्रको गोदमें वैठाकर क्या आप " अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः " इस वेद वाणीको स्मरण नहीं करते हैं ? ऐसा कहते हुए रोने लगे ॥ १५ ॥

लक्ष्मणः-

सिंचत्येनं विकचनलिनीगर्भनिर्मुक्तवारा
धारासारैर्मलयजरसै रामधर्मोऽप्रमाणम् ।

यस्मादेतां त्वमपि पदवीमास्थितो ब्रह्मशापा-
दित्यालापैर्विलपति दृशा लक्ष्मणश्चक्रवाक्याः ॥ १६ ॥

(लक्ष्मण)—हे भगवन् ! यह मूर्च्छा धर्ममें बाधक नहीं है, आपसे धार्मिकको-भी जो ऐसी मूर्च्छा हुई इसका कारण परशुरामजीका शाप है इस प्रकार खिली हुई कमलिनीके बीचसे निकलतेहुए जलकी समान और मलयाचलके चन्दनके जलकी सदृश शीतल सम्भाषणोंसे रामचन्द्रको सींचकर शीतल करतेहुए लक्ष्मणजी चकवीकी दृष्टिकी समान विलाप भी करनेलगे ॥ १६ ॥

सा यथा—

एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजलगलितेनापरेणात्मकान्तम् ।
अह्नच्छेदे दयितविरहाशंकिनी चक्रवाकी ।
द्वौ संकीर्णौ विसृजति रसौ रौद्रकारुण्यसंज्ञौ ॥ १७ ॥

जिस प्रकारसे चक्रवाकी क्रोधसे परिपूर्ण एक नेत्रसे आकाशमण्डलमें स्थित सूर्यके मण्डलको देखती है और आँसुओंसे परिपूर्ण दूसरे नेत्रसे अपने पतिको देखती है इसप्रकार सायंकालके समय अपने पतिके वियोगकी शंका करनेवाली चकवी रौद्र और करुणा इन दोनों मिलेहुए रसोंको प्रकाशित करती है ॥ १७ ॥

तत्र निकुम्भिलाद्रौ न्यग्रोधमूलेऽवटे

रावणिः—(सत्वरम्)

कुण्डे विभीतकसमिद्भिरथार्धचन्द्रे
शक्रेभकुम्भदलनः पलमाजुहाव ।

हनूमान्—

शत्रुंजये रथवरेऽर्धसमुद्गतेऽग्ने-
र्यन्नं बभञ्ज तरसा हनुमानुपेत्य ॥ १८ ॥

इधर निकुम्भिल पर्वत पर बडके वृक्षकी जडमें कुण्डके समीप मेघनाद (शीघ्र-तासे) इसके अनन्तर इन्द्रके हाथीके गण्डस्थलको विदीर्ण करनेवाला मेघनाद अर्ध-चन्द्राकार कुण्डमें बहेडेकी लकडियोंके साथ अपने शरीरके माँसको हवन करनेलगा, (हनूमान्) इतनेमें ही हनूमान्जीने आकर उस शत्रुजीत रथियोंमें श्रेष्ठ मेघनादके अग्निमें आधा ही यज्ञ करने पर बलात्कारसे यज्ञको विध्वंस करडाला ॥ १८ ॥

लक्ष्मणः-

रणप्राङ्गणे शनैश्चरादाप्य दाशरथेनार्पितं संहारास्त्रमनुस्मृत्य
सानन्दं शोकमपहाय रे रे मायारथारूढप्रौढबाहुशालिन्मे-
घनाद मायां विभिद्य त्वां यमलोकं प्रस्थापयामि पश्य ।

(समरभूमिमें लक्ष्मणजी) शनैश्चरसे पाकर दशरथके दियेहुए संहारास्त्रको स्मरण करके आनन्दित हो शोकको त्यागकर कहनेलगे कि-अरे रे नीच ! मायासे रचित रथमें स्थित होकर भुजाओंका घमण्ड दिखानेवाले मेघनाद ! अभी मैं तेरी मायाको काटकर तुझे यमलोकको भेजता हूँ देख ॥

दोःस्तंभास्फालकेलिस्फुटविकटरवध्वस्तघोरान्धकारः
संहारास्त्रं नियोज्य स्वधनुषि धरणीं पाणिनाहत्य वीरः ।
क्रोधान्धो रावणस्य ज्वलदनलशिखामुद्गिरन्पाणियुग्मे
स्थित्वा चिक्षेप सौमित्रिरथ दृढशिरो मेघनादस्य साद्रि ॥ १९ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके मेघनादवधो नाम
द्वादशोऽङ्कः समाप्तः ॥ १२ ॥

भुजदण्डोंके ताडनकी क्रीडासे प्रकट विकट शब्दसे जिन्होंने बडा अन्धकार नष्ट किया है,अतुलबली, क्रोधसे उन्मत्त,लक्ष्मणजीने संहारकारक अस्त्रको अपने धनुष पर चढाकर और भूमिको हाथसे ताडन करके जलतेहुए अग्निकी लपटोंको फलातेहुए मेघनादके दृढ और मुकुटसहित मस्तकको काटकर रावणके हाथोंमें फेंकदिया ॥ १९ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके भाषाटीकायां मेघनादवधो नाम
द्वादशोऽङ्कः समाप्तः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽङ्कः ।

(सक्रोधम्)

लङ्केश्वरः सुतवधारुणवक्त्रचक्र-
स्तत्रैकवीरनिधनां क्षिपति स्म शक्तिम् ।
सौमित्रिवक्षसि रुचार्धपथे ज्वलन्ती
क्षिप्ताम्बुधौ हनुमता तरसा गृहीत्वा ॥ १ ॥

(क्रोधके साथ) मेघनादके मरनेसे लाल २ नेत्र और मुखमण्डलवाले लंकाधिपति रावणने उस समय एक वीरनाशिनी शक्तिको फेंका वह शक्ति निजकान्तिसे लक्ष्मण-जीके वक्षःस्थलके वेधनेको चली तब हनुमानजीने बीचमेंसे ही उस प्रज्वलित शक्तिको ग्रहण करके समुद्रमें डालदिया ॥ १ ॥

(रावणः शक्तिग्रहणमवलोक्य सक्रोधं ब्रह्माणं हन्तुमुद्यतः ब्रह्मा सभयं नारदं सस्मार)

रावण शक्तिको पकडीजातीहुई देखकर क्रोधसे ब्रह्माके मारनेको उद्यत हुआ तब ब्रह्माजीने भयभीत होकर नारदजीको स्मरण किया ॥

नारदः (प्रविश्य) तात किमिति स्मृतोऽहम् ॥

नारदजी (प्रवेश करके) पिताजी—कहिये आपने मुझे क्यों याद किया ।

ब्रह्मा--वत्स ! यावन्मारुतिः समरभूमौ तावदेकवीरघातिनी-शक्तिर्लक्ष्मणं न भिनत्ति । तस्मिन्पुनरभिन्ने लंकेश्वरो मां नितरां हनिष्यतीति मत्वा समरतः पवनपुत्रः स्थानान्तरं नेयः ॥

ब्रह्माजी —हे पुत्र ! जबतक ये हनुमान्‌जी रणभूमिमें हैं तबतक यह एकवीर घातिनी शक्ति लक्ष्मणको भेदन नहीं करसकती और लक्ष्मणपर प्रहार न होनेसे रावण मुझे अवश्य ही परम दुःख देगा इसकारण महावीरजीको रणभूमिसे अलग दूसरे स्थानमें लेजाना चाहिये ॥

नारदः–यदाज्ञापयति तात इति (निष्क्रम्य)

नारदजी–हे पिताजी जो आपकी आज्ञा, ऐसा कहकर (निकल कर)

द्राङ् नारदोऽथ पितृभङ्गभयादनैषी-
त्स्थानान्तरं समरतः पवनस्य सूनुम् ।
लंकापतेर्दृढचपेटभवत्प्रहारा-
ज्जग्राह रामरिपुरत्र विधेस्तु शक्तिम् ॥ २ ॥

इसके अनन्तर लंकापति रावणके कठोर चपेटेकी चोटसे कष्ट होगा इस भयसे नारद शीघ्र ही पवनतनय हनुमान्जीको दूसरे स्थान पर लेगए और इधर रावणने ब्रह्माकी शक्ति उठाई ॥ २ ॥

रावणः–

दृष्ट्वा शक्तिग्रहणमधिकं राक्षसेन्द्रः कृतान्त-
क्रोधाध्मातो ज्वलितहृदयाग्निस्फुलिङ्गोग्रवेषः ।
तामेव स्म क्षिपति निधने लक्ष्मणस्योग्रमन्त्रै-
र्भित्वा वक्षःस्थलमपि गता भूतलं कूर्मराजम् ॥ ३ ॥

अपनी छोडीहुई शक्तिको हनुमान्जी करके पकडीहुई देखकर यमराजकी समान अत्यन्त क्रोधसे भुने हुए और प्रदीप्त हृदयाग्निकी चिनगारियोंसे भयानक वेषवाले निशाचरपति उस रावणने लक्ष्मणजीको मारनेके लिये तीव्र मन्त्रोंके द्वारा उसी शक्तिको फेंका वह शक्ति लक्ष्मणजीके हृदयको और पृथिवीका भी भेदकर कच्छपराजके पास जापहुँची ॥ ३ ॥

शक्तिः प्रौढोग्रतेजःप्रलयसमुदिताद्रावणात्कोपमाना-
द्गर्जन्ती दीपयन्ती ज्वलितदशदिशो लक्ष्मणं वेधयन्ती
हाहाकारप्रलापं सकलजनभवं देवदैत्येन्द्रकम्पं
ब्रह्माद्यैः स्तूयमाना भुजगपतिपुरं कारयन्ती जगाम ॥ ४ ॥

प्रौढ और उग्र तेजवाले वीरोंके नाशके निमित्त प्रकटहुई, गर्जना करतीहुई और प्रकाशमान तथा दशों दिशाओंको जलातीहुई लक्ष्मणजीको छेदन कर और समस्त प्राणियोंमें फैलतेहुए हाहाकारको उत्पन्न कर एवं देवता तथा राक्षसोंको कम्पायमान करतीहुई तथा ब्रह्मादिकोंसे स्तुति कीहुई वह शक्ति क्रोधमें हुए रावणके पाससे छूटकर नागलोकको चलीगई ॥ ४ ॥

(अत्रान्तरे स्थानान्तरादागत्य हनुमता)
पश्चात्तापगते विभीषणबले क्षीणे प्लवङ्गेश्वरे
मूढे जाम्बवति प्लवङ्गमगणेऽसंभूय भूयःस्थिते ।
शक्तिप्रौढमहाप्रहारविधुरे मूर्च्छागते लक्ष्मणे
हा रामे विलपत्यहो हनुमता प्रोक्तं स्थिरैः स्थीयताम् ॥ ५ ॥

इस ही अवसरमें अन्य स्थानसें आकर हनुमान्जीने विभीषणकी सेनाके पश्चात्ताप करने पर सुग्रीवके दुर्बल होजाने पर जाम्बवान्के जडसमान होजाने पर फिर भी वानरसमूहोंके छिपकर खडे होने पर शक्तिके महावीर प्रहारसे व्याकुल लक्ष्मणजीके मूर्च्छाको प्राप्त होने पर और हाय ! हाय ! करके रामचन्द्रजीके विलाप करने पर महावीरजी बोले, सबको धैर्य रखकर स्थित होना चाहिये ॥ ५ ॥

अथ विभीषणः ।

रात्रौ ज्वलदुल्मुकं करे कृत्वा शिविरं पर्य्यटन्
प्रौढशक्तिज्वालावलीकवलितान् वानरान् प-
श्यति स्म को जीवति न वेति तत्र जांबवन्त-
मेवापश्यदुपविष्टं मूर्च्छारहितं नान्यम् ।

इसके अनन्तर विभीषण—रात्रिमें जलतीहुई मसाल हाथमें लेकर लश्करमें ढूँढनेलगे, महाशक्तिकी ज्वालाओंकी पंक्तियोंसे झुलतेहुए वानरोंको देखनेलगे कि—कोई जीता है या नहीं, उसी समय मूर्च्छारहित बैठेहुए जाम्बवन्तको ही देख और किसीको नहीं ।

जाम्बवान्–(विभीषणं प्रति)

अञ्जनी सुप्रजा येन मातरिश्वा तु राक्षस ।
हनूमान्वानरश्रेष्ठः कामं जीवति वा न वा ॥ ६ ॥

जाम्बवन्त विभीषणसे बोले कि–हे राक्षसराज ! जिनसे अंजनी माता सुपुत्रवती है और जिनके होनेसे पवन भी पुत्रवान् है वह वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी जीते-हैं या नहीं ? ॥ ६ ॥

विभीषणः–

नैव राजनि सुग्रीवे नैव रामे न चाङ्गदे ।
आर्येण दर्शितः स्नेहो यथा वायुसुते पुरः ॥ ७ ॥

विभीषण–हे महाराज ! न तौ तुमने वैसा प्रेम सुग्रीवमें और न महाराज रामचन्द्रजीमें तथा न अंगदमें दिखाया जैसा कि–वायुतनय हनुमान्‌जीमें स्नेह प्रकट किया ॥ ७ ॥

जाम्बवान्–

भो राक्षसेन्द्र विभीषण !
तस्मिञ्जीवति दुर्धर्षे हतमप्यहतं बलम् ।
हनूमति गतप्राणे जीवन्तोपि हता वयम् ॥ ८ ॥

जाम्बवान्–हे राक्षसराज विभीषण ! उन हनुमान्‌जीके जीते रहने पर यह सेना हनन कीहुई भी जीती ही है और हनुमान्‌जीके प्राणहीन होजानेसे हम सब जीते-हुए भी मरेहुएके समान होजायँगे ॥ ८ ॥

ततः सत्वरं जाम्बवता सह विभीषणः पृष्ठोपस्थितं मारुतिं विलपन्तं रामचन्द्रमनुस्मरति ।

तदनन्तर शीघ्र ही जाम्बवान्‌के साथ विभीषण, पीछे खडेहुए पवनतनय हनुमान्‌जीको और विलाप करते रामचन्द्रजीको स्मरण करते हैं ॥

रामः—(विभीषणमवलोक्य)

गिरीन्यास्यन्त्यमी वीरास्त्वयि वत्स दिवं गते ।
मरिष्यामि ससीतोहं क्व यास्यति विभीषणः ॥ ९ ॥

रामचन्द्रजी (विभीषणको देखकर) हे तात ! आपके स्वर्गको जाने पर ये वीर वानर पर्वतोंमें चलेजायँगे और मैं सीतासहित मृत्युको प्राप्त होजाऊँगा परन्तु इस विभीषणकी क्या गति होगी ? ॥ ९ ॥

भुक्ते मयि प्रथममत्सि फलानि वत्स
सुप्ते करोषि शयनं मयि जीवति त्वम् ।
प्राणाञ्जहासि सुरलोकसुखाय किंवा
सापत्नभावमहह प्रकटीकरोषि ॥ १० ॥

(इति तारस्वरैः सर्वे रुदन्ति)

हे ! तात पहिले मेरे भोजन करलेने पर तुम फलोंको खातेहो, और मेरे सोनेके पीछे तुम शयन करते हो, अब क्या तुम स्वर्गलोक का सुख भोगनेके लिये मेरे जीते रहतेही अपने प्राणोंको त्यागते हो ? ओहो ! बडे शोककी बात है कि तुम द्वेषभाव प्रकट कर रहे हो अर्थात्—जब भोजनादि सब कृत्य तुम मुझसे पीछे ही करते थे तो अब मुझसे प्रथम ही प्राणत्याग क्यों करते हो ? ॥ १० ॥

(यह सुनसम्पूर्ण सेना बडी जोरसे रोने लगी ॥)

रामः—

हा वत्स लक्ष्मण धिगस्तु समीरसूनुं
यस्त्वां रणेपि परिहृत्य पराङ्मुखोऽभूत् ।
गोपायतीह भरतस्तु ममानुजः किं
यस्त्वामधिज्यधनुरुद्धतशक्तिपातात् ॥ ११ ॥

(रामचन्द्रजी) हे तात लक्ष्मण ! पवनकुमारको धिक्कार है, क्योंकि—जो तुम्हें संग्राममें ही छोडकर अपनेआप चलेगये यदि इस समय हमारे भ्राता भरतजी होते तो धनुषको चढाकर इस उद्धत शक्तिपातसे क्या तुम्हारी रक्षा नहीं करते ? ॥ ११ ॥

(अलमस्मद्वृथायौवनशस्त्रभरेणेति सशरं धनुस्त्यक्तुमिच्छति)

हमारी इस युवावस्थामें वृथा शस्त्रधारणरूप बोझसे क्या प्रयोजनहै ? इस प्रकार कहकर बाणसहित धनुषको त्यागना चाहतेहैं ॥

(हनूमान्निजापराधेन सकरुणं भरतबाहुवर्णनाकर्णनेन साभ्यसूयं सत्वरं गारुडस्थानमभिनीय रामपुरतः स्थित्वा)

हनूमान्जी अपने अपराधसे (करुणाके साथ) और भरतजीकी भुजाओंके पराक्रमका वर्णन सुननेसे (हिर्ससे) जल्दी ही गारुडस्थान आकाशमण्डलमें प्राप्त-हो रामचन्द्रके सामने खडे होकर ॥

देव ! पश्य–

सप्ताम्भोनिधयो दशैव च दिशः सप्तैव गोत्राचलाः
पृथ्व्यादीनि चतुर्दशैव भुवनान्येकं नभोमण्डलम् ।
एतावत्परिमाणमात्रकुटके ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
क्वासौ यास्यति राक्षसो रघुपते किं कार्मुकं त्यज्यते॥ १२॥

हे भगवन् ! –देखिये सातों सागर, दशों दिशा, सात पर्वत और पृथ्वी आदिक चौदह लोक और एक आकाशमण्डल इतने परिमाणवाले ब्रह्माण्डके भीतर वह राक्षस कहाँ जायगा–अर्थात् इतने स्थानोंमें जाकर तौ कहीं बच नहीं सकता तो फिर हे रामचन्द्रजी ! आप धनुषको क्यों त्यागते हैं ? ॥ १२ ॥

रामः–भो मारुते तथापि मामुन्मथ्य जागर्ति लंकाभटः ॥

रामचन्द्रजी–हे हनुमान्जी ! तौ भी मेरा मथन करके भी रावण जागरहा है ॥

हनूमान्–देव ! पश्य, नीचैः सह मैत्री न कर्तव्या यतः-

हनूमान्–हे स्वामिन् ! देखिये–नीचमनुष्योंके साथ मित्रता नहीं करनी चाहिये । कारण कि–

खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं पतति साधुषु ।
दशाननोऽहरत्सीतां बन्धनं स्यान्महोदधेः ॥ १३ ॥

दुष्टजन तो कुकर्म करता है और वह कुकर्म निश्चय सज्जनोंके ऊपर पडता है क्योंकि–रावणने तो सीताको हरा और समुद्रका बन्धन होगया ॥ १३ ॥

दैवादप्युत्तमानां परिहरति यदा दुर्जनो वा कदाचि-
न्मानं नाप्नोति तेषामनुजनितगुणानेव कुत्राधिकत्वम् ।
स्वर्भानुर्भानवीयान्हरति यदि पुनः शीतरश्मिर्मरीची-
न्ब्रह्माण्डस्येह खण्डे तदपि रघुपते किं ग्रहेशत्वमेति ॥ १४ ॥

दुर्जन कदाचित् प्रारब्धके वशसे उत्तम पुरुषोंके मानको हरलेता है, तो भी उनसे विशेष तो क्या होगा उनके गुणोंको भी प्राप्त नहीं होता । हे रामचन्द्रजी ! यद्यपि राहु, सूर्य और चन्द्रमाकी किरणोंको हरलेताहै तथापि क्या इस ब्रह्माण्डमें वह ग्रहोंका स्वामी होजाता है अर्थात् कदापि नहीं ॥ १४ ॥

रामः–अये हनुमन् !

किं तया क्रियते वीर कालान्तरगतश्रिया ।
अरयो यां न पश्यन्ति बन्धुभिर्वा न भुज्यते ॥ १५ ॥

रामचन्द्रजी–हे हनुमान् ! जो सम्पत्ति शत्रुओंसे देखी नहीं जाती और कुटुम्बियोंसे भोगी नहीं जाती उस खोटे अवसरमें प्राप्त हुई सम्पत्तिसे क्या लाभ ? ॥ १५ ॥

हनूमान्–

(लक्ष्मणं विषमस्थितमवलोक्य लक्ष्मणवक्षो-
भिन्नं दृष्ट्वा (सविस्मयो रामम्) हनुमति
कृतप्रतिज्ञे दैवमदैवं यमोऽप्ययमः ।)

हनूमान्–दुःखदशाको प्राप्त लक्ष्मणजीको देखकर और उनके हृदयकोभी विदीर्ण देख (आश्चर्यपूर्वक रामचन्द्रजीसे) हनुमान् के प्रतिज्ञा करने पर दैव अदैव होजाता है और यम भी अयम हो जाता है ॥

पुनर्देव ! पश्य–

पातालतः किमु सुधारसमानयामि
निष्पीड्य चन्द्रममृतं किमुताहरामि ।
उद्दण्डचण्डकिरणं ननु वारयामि
कीनाशपाशमनिशं किमु चूर्णयामि ॥ १६ ॥

हे नाथ ! और देखिये आप कहें तो मैं पातालसे अमृतरसको लेआऊँ ! चन्द्रमाको निचोडकर अमृत लेआऊँ या प्रचण्डकिरणमाली सूर्यको रोकदूं या सन्तत पाश धारण करनेवाले यमराजके पाशको भी चूर २ करदूँ ? ॥ १६ ॥

रामः–(आत्मगतम्)

यद्यदुक्तमनेन महावीरेण तत्तदिदानीमेव कृत्वा दर्शयति परन्तु तत्करणादकालेपि महाप्रलयः स्यात् ।

(इति विचार्य प्रत्याह)–

रामचन्द्रजी–(मनही मनमें) जो २ इस महावीरने कहा है वह सब यह अभी करके दिखासकता है परन्तु ऐसा करनेसे असमय ही महाप्रलय होजायगा–यह विचार कर कहने लगे ॥

वैद्यं सुषेणमधुनैव तदानय त्वं
लंकापतेरनुचरोपि यतो भिषक्सः ।
नैवान्यथा वदति रामगिरा हनूमान्प-
र्य्यङ्कसुतमचिरेण तमानिनाय ॥ १७ ॥

हे वीर ! तुम इस समय सुषेण नामक वैद्यको लेआओ–क्योंकि वह वैद्य रावणका अनुचर है तौ भी अन्यथा नहीं कहैगा इस प्रकार कहेहुए रामचन्द्रके वाक्योंसे हनुमान्जी पलँगपर सोते हुए उस वैद्यको शीघ्रही उठाकर लेआये ॥ १७ ॥

सुप्तोत्थितं रघुपतिर्भिषजां वरिष्ठं
पप्रच्छ तं सकरुणं तरुणोपचारम् ।
स व्याजहार हिमरश्मिरुचा रजन्यां
जीवत्यसौ द्रुहिणशैलविशल्यवल्ल्या ॥ १८ ॥

निद्रासे जागेहुए वैद्यराज सुषेणसे रामचन्द्रजीने करुणाके साथ तरुण लक्ष्मणजीके निमित्त औषधि पूछी सुषेणने कहा कि—चन्द्रमाकी कान्तिसे प्रकाशित रात्रिमें द्रुहिणनामक पहाडकी संजीवनी बूटीसे यह जीवित हो सकते हैं अर्थात् आजकी ही रातमें वह बूटी मँगाओ तो लक्ष्मण जीवित हो सकते हैं ॥ १८ ॥

तत्र रामेणाहूता वानरभटा द्रुहिणाद्रिगमनाय
रामपुरतः स्वस्वपराक्रमानुरूपं समयावधिमूचुः ।

उस समय रामचन्द्रजीके बुलायेहुए वानर योधा द्रुहिणाचल पर्वत पर जानेके लिये श्रीरामचन्द्रजीके सन्मुख अपने अपने पराक्रमके अनुसार अवधिको कहने लगे ॥

नलस्त्रिरात्रं पुनरेति गत्वा तत्रैव मैन्दद्विविदौ द्विरात्रम् ।
सुग्रीवनीलौ पुनरेकरात्रं वीरोऽङ्गदो यामचतुष्टयेन ॥ १९ ॥

नल तो जाकर तीन रातमें लौट सक्ता है और मैन्द तथा द्विविद द्रुहिण पर जाकर दो रात्रिमें लौटकर आयसक्ते हैं, तथा सुग्रीव और नील एक दिन और रात्रिमें और वीर अंगद चार ही पहरमें लौटकर आसक्ते हैं ॥ १९ ॥

(रामः सभयम्—आर्तः संकुचितमुखकमलः समरसंकटे
भगवतो रुद्रावतारस्य मारुतेः साशंकमुखकमलविकाशं पश्यति ।)

रामचन्द्रजी—(भयसे) दुःखी होते हुए मलिन मुखकमल होकर रणसंकटमें शिवावतार हनुमानजीके मुखकमलकी सशंक दमकको देखते हैं ॥

हनूमान्—(सत्वरं सकरुणं गारुडस्थानमास्थायाञ्जलिपुटमभिनीय)
देव क्षणं स्तभ्यतामात्मा यावदेनं भिषक्चक्र-
चूडामणिं लंकां प्रवेश्यागच्छामि ॥ (तथा कृत्वा)

हनुमान् शीघ्र ही करुणाके सहित आकाशमण्डलमें स्थित होकर हाथ जोड बोले हे स्वामिन्! क्षणमात्रको सावधान रहिये जबतक मैं इन वैद्यराजजीको लंकामें पहुँचाकर आऊँ (ऐसा ही करते हैं)

नीत्वा लंकां सुषेणं पुनरनिलसुतः प्रार्थयामास रामं
देवाज्ञां देहि वीरास्तव हितकरणोपस्थिताः सन्ति सर्वे ।
लक्षाणां षष्टिरास्ते द्रुहिणगिरिरितो योजनानां हनूमां-
स्तैलाग्नेः सर्षपस्य स्फुटनरवपरस्तत्र गत्वात्र चैमि ॥ २० ॥

सुषेणको लंकामें पहुँचाकर हनुमान्जी रामचन्द्रसे प्रार्थना करनेलगे कि, हे स्वामिन्! आज्ञा दीजिये, हम सब वीर वानर आपका हित करनेको उपस्थित हैं। हे महाराज! यहांसे द्रुहिण पर्वत साठलाख योजन है सो जितना समय प्रज्वलित अग्निमें सरसोंका दाना भुनकर चटकनेमें लगता है उतनी ही अवधिमें मैं पवनकुमार तहाँ जाकर फिर यहाँ लौटकर आजाऊँगा ॥ २० ॥

रामः-(सहर्षम्) तथा करोतु वीरः! हनूमान्-

रामचन्द्रजी-(प्रसन्न होकर) हे वीर! ऐसा ही करो। हनूमान्-

ध्यात्वात्मानं प्रणम्य प्रभुमवनिसुतावल्लभं तस्य वाक्यं
नीत्वाऽयोध्यां गमिष्यस्यखिलकुशलतामानयिष्यस्यपीति ।
चंडोड्डीनं चकार द्रुतमथ जननीलक्ष्मणस्योपलभ्य
स्वप्ने व्यालः समूलं कवलयति भुजं वाममुत्तस्थुपीति॥२१॥

अपने रुद्रस्वरूपका ध्यान कर और सीतापति भगवान् रामचन्द्रजीको प्रणाम करके " तुम अयोध्याको जाओगे और सबकी कुशल लाओगे " ऐसे श्रीरामजीके वचनोंको ग्रहण कर अपनी प्रचण्ड उडानसे चलदिये। उस ही समय लक्ष्मणजीकी माता सुमित्राजीने यह स्वप्न देखा कि-एक सर्प मेरी बाईं भुजा सबकी सब निगल गया और उसी समय घबडाकर उठ बैठीं ॥ २१ ॥

प्रोवाच कोसलसुतापुरतोद्भुतं सा
स्वप्नं च सा मुनिवशिष्टपुरोहितस्य ।

पार्श्वे नियोज्य सशरं धनुरादधानं
शान्तिं चकार भरतं मुनिराज्यहोमैः ॥ २२ ॥

सुमित्राने उस स्वप्नको कौशल्याके सामने कहा और कौशल्याने उस विचित्र स्वप्नको मुनिवर पुरोहित वशिष्ठजीके सामने कहा वशिष्ठजीने बाणसहित धनुषको भरतजीके पास रखकर घीके होमोंसे शान्ति की ॥ २२ ॥

(तत्र द्रोणाद्रिशिखरे) हनूमान्--

दृष्ट्वा सर्वास्तुहिनकिरणोद्यत्प्रभास्तत्र शैले
वल्लीरत्नान्यमरखदिराङ्गारभास्वन्ति वीरः ।
भ्रान्त्वा दोर्भ्यां गिरिमुदहरन्नोत्पपातैष तातं
सस्माराथं द्रुतमुपगतस्तद्बलेनोज्जहार ॥ २३ ॥

उधर द्रोणाचलके शिखरके ऊपर हनुमान्जी पहुँचे वहाँ द्रोणाचल पर सब ही श्रेष्ठ बूटियोंको चन्द्रमाकी समान दमकती हुई और देवदारुके अँगारेकी समान किरणोंवाली देखकर चारोंओर घूमे, तदनन्तर पराक्रमी महावीर भुजाओंसे पर्वतको ही उखाडने लगे परन्तु जब यह नहीं उखडा तो अपने पिता पवनका स्मरण किया तब वायु महाराज शीघ्रही आगये और उनके बलसे महावीरजीने उस पर्वतको उखाड लिया ॥ २३ ॥

तत्रायोध्यायां शान्तिमण्डपे कुण्डसमीपस्थौ भरतवशिष्ठौ—

उधर अयोध्यामें शान्तिमण्डपके विषे हवनके कुण्डके पास स्थित भरत और वशिष्ठजी—

हुत्वा श्रीखण्डकाण्डं सतगरकुसुमं पुण्डरीकं मृणालं
कर्पूरोशीरगर्भं प्रचुरघृतयुतं नारिकेलं जुहाव ।
तूर्णं पूर्णाहुतिं स ज्वलदनलनिभं शैलमादाय वीरः
प्राप्तस्तत्राञ्जनेयः स किमिति भरतस्तं शरेणाजघान ॥ २४ ॥

तगर और फूलोंके साथ चन्दन, कमल, कमलनाल, कपूर और खससे, हवन करके घृतपूर्ण नारियलसे पूर्णाहुति कररहे थे कि, उसही समय एकाएकी जलती हुई अग्निकी समान प्रकाशवाले पर्वतको लेकर महावीर हनुमान्जी आगये "यह क्या है" ऐसा विचार कर भरतजीने उनके ऊपर बाणसे प्रहार किया ॥२४॥

(तदा भरतबाणेन भिन्नो हनूमान् भरतदोर्दण्डमुक्तकाण्ड-प्रचण्डप्रहारमूर्च्छितविधिलिखिताक्षरपंक्तिलोपात्प्राणान्परित्यक्तुमिच्छन्)

उस समय भरतजीके बाणसे हनुमान्जी विधकर भरतजीके भुजदण्डोंसे छूटेहुए बाणके प्रचण्ड प्रहारसे मूर्च्छित होगए और प्रारब्धके लिखेहुए अक्षरोंकी पंक्तिके मिटनेसे प्राण त्यागनेकी इच्छा करतेहुए)

पुंखावशेषभरतेषुललाटपट्टो
हा राम लक्ष्मण कुतोहमिति ब्रुवाणः ।
संमूर्च्छितो भुवि पपात गिरिं दधानो
लांगूलशेखररुहेण सकेसरेण ॥ २५ ॥

एक पुंखमात्र ही जिसका ऊपर रहा है ऐसे भरतजीके बाणसे विंधे हुए ललाट पट्टवाले "हा राम! हा लक्ष्मण!" मैं कहाँ हूं ? यह कहते हुए बालोंवाली पूँछके आगेके भागमें द्रोणाचलको धारण किये हुए हनुमान्जी अचेत होकर पृथ्वीमें गिर पडे ॥ २५ ॥

तत्र वशिष्ठभरतादयः सर्वे—(सविस्मयम्)
सर्वे निशम्य सहलक्ष्मणरामनाम
तत्रोपगम्य हनुमत्पदयोर्निपेतुः ।
वृत्तं च तस्य वचनादपनीय शल्यं
मूर्च्छां जहार समुनिर्गिरिजौपधीभिः ॥ २६ ॥

उस ही अवसरमें वशिष्ट और भरत आदि (आश्चर्यमें होकर) सभी लक्ष्मणके साथ रामके नामको सुनकर हनुमान्‌जीके समीप गए और उनके चरणोंको प्रणाम करने लगे, उनके वाक्यसे सब वृत्तान्तको सुनकर उस पर्वतकी बूटियोंसे ही वशिष्ट मुनिने वाणको उखाड हनुमान्‌जीकी मूर्च्छाको दूर कर दिया ॥ २६ ॥

हनुमान्–(साभ्यसूयम्)

जिज्ञासया भरतबाहुपराक्रमस्य
रामस्तु तस्य युधि लक्ष्मणशक्तिभेदे ।
श्रान्तोऽहमित्यथ गिरिं नय तं कुमारं
वाक्यं जगाद हनुमान्भरतं सरोषः ॥ २७ ॥

हनुमान्–(तमककर)

लक्ष्मणजीके शक्ति लगनेसे घायल होनेपर रामचन्द्र करके बडाई किये हुए भरतजीकी भुजाओंके पराक्रमको जाननेकी इच्छासे " मैं थकगया हूं " पर्वतके सहित मुझे रामचन्द्रजीके निकट पहुँचा दो इस प्रकार हनूमान्‌ने क्रोधमें भरकर उन कुमार भरतजीसे कहा ॥ २७ ॥

(भरतः रामलक्ष्मणयोः समरसंकटमुपलभ्य गगनमण्डलभ्रान्तनिजभुजाटोपनाय दोधूयमानधनुर्गुणटणत्कारमभिनीय)

भरतजी–राम, लक्ष्मण पर संग्राममें संकट पडा सुनकर आकाश मण्डलमें भ्रमण करते हुये भुजाओंके आडम्बरके लिये काँपते हुए अपने धनुषकी प्रत्यञ्चापर टंकार देते हैं ॥

(अत्रान्तरे स्वकटके)–रामः–

इसी अवसरमें निजसेनामें रामचन्द्रजी–

वत्सोत्तिष्ठ धनुर्गृहाण रिपवः सैन्यं विनिघ्नन्ति नः
किं शेषेऽद्य निराकृताः किमरयः प्रत्याहृता वा प्रिया ।
भ्रातर्देहि वचो बिभेति हृदयं भ्रातः प्रिये छिन्धि मां
कैकेयि प्रियसाहसे सुतवधान्मातः कृतार्था भव ॥ २८ ॥

हे तात लक्ष्मण !. उठो धनुष उठाओ ये शत्रुसमूह हमारी सेनाका नाश किये डालते हैं, आज तुम कैसे सोरहे हो ? क्या शत्रुओंको हराचुके ? क्या प्रिया सीताको लौटा लिया ? हे भाई ! जरा उत्तर तो दो क्योंकि-मेरा मन भय खाता है, पहिले मुझ अपने प्यारेको टुकडे २ कर डालो । हे साहसको प्रिय माननेवाली माता कैकेयी !. आज पुत्रके वधसे तू भी कृतार्थ होजा ॥ २८ ॥

तत्रैव-श्रुत्वेति तस्य वचनं भरतः शराग्रे
साद्रिं कपिं समधिरोप्य गुणे नियुज्य ।
मोक्तुं दधे झटिति कुंडलिनं चकार
तुष्टाव तं परमविस्मयमागतः सः ॥ २९ ॥

वहाँ हनुमान्जीके उन वचनोंको सुन, प्रत्यञ्चाको चढाकर पर्वतसहित महावीर-जीको बाण पर बैठा शीघ्रतासे भरतजीने जिस समय कानतक धनुषको खींचा उस समय बडे आश्चर्यमें हो हनुमानूजी प्रसन्न हुए और भरतजीकी प्रशंसा करने लगे ॥ २९ ॥

हनूमान्-

उत्तीर्य बाणात्कुशलं गृहीत्वा सम्पूज्य बाहु भरतस्य वाग्भिः ।
मनो दरिद्रस्य यथा दिगन्तं तथा हनूमाञ्छिबिरं जगाम ॥ ३० ॥

हनूमानूजी-बाणके ऊपरसे उतर, कुशल लेकर वचनोंसे भरतजीकी भुजाओंकी प्रशंसा करके जैसे दरिद्री मनुष्योंका मन दिगन्त तक जाता है ऐसे ही हनूमानूजी लश्करमें चले गए ॥ ३० ॥

अद्रिं रुद्रावतारः प्रलयसमुदितद्वादशार्कानुकारं
द्रोणं दोष्णा दधानः कटकनिकटतामागतोऽप्यर्धरात्रे ।
दिग्भागोत्तालदृष्टिस्तरलतरसरस्तीरमास्थाय वीर-
स्तारं धीमानरोदीत्तदनु सह मुदा वाहिनीमाजगाम ॥ ३१ ॥

प्रलयकालमें उदय हुए बारह सूर्यका अनुकरण करनेवाले द्रोणाचल पर्वतको भुजामें धारण करे हुए रुद्रवतार हनूमान्जी आधी रातके समय सेनाके समीप आगये उस समय उस प्रकाशके कारण प्रभात समयके भ्रमसे वीर बुद्धिमान् रामचन्द्रजी तालाव पर बैठकर रोदन करनेलगे तत्पश्चात् पूर्वदिशामें दृष्टिको लगाये हुए आनन्दके साथ सेनामें आये ॥ ३१ ॥

(पर्वतोद्योतनेन सूर्य्योदयभ्रमात् सरोवरस्थं विकसित-कमलमालोक्य प्रातराशङ्कया लज्जावानरोदीत् । तदनु दिग्भागानवलोक्य सूर्य्योदयमपश्यन्मुदं प्राप्य हा ज्ञातं पर्वतोद्योतनेन सूर्य्योदयभ्रमात्कमलविकास इति हर्षेण सह स्ववाहिनीं जगाम)

रामचन्द्रजी पर्वतके प्रकाशित होनेके कारण सूर्य्योदयके भ्रमसे सरोवरमें खिले हुए कमलोंको देखकर प्रातःकाल होनेकी शंकासे लज्जित होकर रोनेलगे । पीछे दिशाओंकी ओर देखकर सूर्य्योदयको न देख आनन्दको प्राप्त होकर ओहो ! जान लिया कि—पर्वतके प्रकाशित होनेके कारण सूर्य्योदयके भ्रमसे कमल खिलगए हैं इस कारण हर्षके साथ अपनी सेनामें चलेआये ॥

हत्वा मायामहर्षिव्रजनिचरवरं कन्धकालीमुदग्रां
ग्राहीरूपां प्रमथ्य प्रबलमथ बलं राक्षसान्मर्दयित्वा ।
जित्वा गन्धर्वकोटिं झटिति ततमणिज्वालमादाय शैलं
प्रातः श्रीमान्हनूमान्पुनरपि तरसा नन्दितस्तत्पुरस्तात् ॥ ३२ ॥

मायाके महर्षि कालनेमि आदिकोंको मारकर, मकरीके रूपको धारण करनेवाली राक्षसीका मथन करके और महाबली राक्षसोंकी सेनाको मर्द्दन करके तथा इन्द्रके भेजे करोडों गन्धर्वोंको जीतकर पर्वतको धारण करे हुए श्रीमान् हनूमान्जी शीघ्र ही रामचन्द्रजीके सामने आगये ॥ ३२ ॥

रामसुग्रीवादयः सर्वे (सहर्षम्)

रामचन्द्र और सुग्रीव आदिक सब सेनाके वानर (हर्षमें होकर)

यो मैन्दद्विविदादिवानरचमूचक्रस्य रक्षाकरः
संहर्ता रणभङ्गभैरवरवोल्लासस्य लंकापतेः ।
सीतातंकमहान्धकारहरणप्रद्योतनोऽयं हरिः
संप्राप्तः पवनात्मजः पटुमहः श्रीकण्ठवैकुण्ठयोः ॥ ३३ ॥

जो कि–मैंद और द्विविद आदि वानरोंकी सेनाओंके रक्षकहैं और रणको भंग करनेवाले रावणके भयानक शब्दको नष्ट करने वाले हैं, तथा जानकीके भयरूप महाअन्धकारके हरण करनेमें सूर्यके समान है, ऐसे महादेवजी और रामचन्द्रजीके परमतेजःस्वरूप यह पवनकुमार वानरराज हनुमान्जी आगये ॥ ३३ ॥

कपिकटकभटानां गण्डगोपालनामा
समरशिरसि धीरो योऽञ्जनायास्तनूजः ।
दिशतु विशदलक्ष्मीं लक्ष्मणस्यात्मनः श्री-
चरणनलिननत्या नित्यसत्योदयश्रीः ॥ ३४ ॥

वीर वानरोंकी सेनामें सबसे आगे रहनेवाले धीरवान् अञ्जनीके पुत्र और मुखमें सूर्यको रखनेके कारण 'गण्डगोपालनामवाले' श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अपने

---

(१) गण्डात् कपोलमध्यात् गावः किरणान् पातीति गोपः, यद्वा गावः जलानि विद्यन्ते यस्मिन् गोपः सूर्यस्तं लाति गृह्णातीति गण्डगोपालः । अर्थात् गण्ड गालमें गोप सूर्यको ग्रहण करै वह "गण्डगोपाल" नामवाले हनुमान्जी । ऐसी कथा है कि बालकपनमें हनुमान्जीने फल समझ कर अनजानमें सूर्यमण्डलको मुखमें रखलिया और फिर ब्रह्माजीको देदिया ॥

प्रणामोंके प्रभावसे नित्य सत्यप्रतिज्ञ रहनेवाले हनूमान्जी श्रीलक्ष्मणजीकी उज्ज्वल लक्ष्मीको बढावें ॥ ३४ ॥

रामः—एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे ।
प्रत्यक्षं क्रियमाणस्य शेषस्य ऋणिनो वयम् ॥ ३५ ॥

रामचन्द्रजी—हे महावीर ! मैं प्रत्यक्षमें तुम्हारे किये एक ही उपकारके निमित्त यदि प्राणोंका दान करदूँ तो शेष जो तुम्हारे कियेहुए उपकार हैं उनका तो मैं ऋणी ही रहूँगा अर्थात्—लक्ष्मणजीके प्राणदानके बदले में तौ मैं तुमको अपने प्राण देदूँ तो समुद्रके लाँघने आदिके प्रत्युपकारको कौन करैगा ? इस कारण मैं तुम्हारे ऋणसे कभी नहीं छूटसकता ॥ ३५ ॥

(सदयम्)

अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे ।
भवान्प्रत्युपकारार्थमापत्सु लभतां पदम् ॥ ३६ ॥

(दयासे) हे कपिराज ! जो तुमने हमारे साथ उपकार किये हैं वे हमारे शरीरमें ही पुराने होजावैं और तुम्हारे प्रत्युपकारके अर्थ आपत्तियोंमें स्थानको न प्राप्त हों—अर्थात् आपने जो हमारे साथ उपकार किये हैं सो आपके शरीरमें कभी कष्ट ही न हो जो हम उन उपकारोंका प्रत्युपकार करें ॥ ३६ ॥

लक्ष्मणः—

आलेपितो हनुमता गिरिजौषधीभिः
मूर्च्छां विहाय सशरं धनुराददानः ।
रामारविन्दतरणिर्धरणीधरात्मा
लंकापतेः कुपितकाल इवोपतस्थौ ॥ ३७ ॥

लक्ष्मणजी—हनूमान्जी करके पर्वतकी औषधियोंसे लेपन करेहुए मूर्च्छाको त्यागकर धनुष बाणको उठातेहुए श्रीरामचन्द्रजीके मुखकमलको खिलानेके लिये सूर्यकी समान शेषावतार लक्ष्मणजी रावणके क्रोधित कालकी समान उठ बैठे ॥ ३७ ॥

क्रोधारुणः प्रोत्फुल्लखदिराङ्गारनेत्रो रामः धनुर्गुणटणत्कारमभिनीय-(सहर्षं सबाष्पं सपुलकं च लक्ष्मणं गाढमालिंग्य) हा लक्ष्मण प्रौढशक्तिभेदखेदं जहि मम हृदयपर्यङ्के, हा मेघनादकुलकमलिनीप्रालेयवर्ष वत्स एतावतीं वेदनां न वेत्सि ॥

क्रोधसे लाल २ जलते खदिरके अंगारेके समान नेत्रोंवाले रामचन्द्रजी धनुषकी प्रत्यञ्चा पर टंकार शब्द करके हर्षके साथ आँसू भरकर पुलकित हो लक्ष्मणजी को वडे प्रेमसे आलिङ्गन करके हा लक्ष्मण ! तीक्ष्ण शक्तिसे विदीर्ण होनेके खेदको मेरे हृदयरूप पर्यङ्कमें त्यागो हा मेघनादके कुलरूप कमलिनीको वडे भारी पालेकी वर्षाके समान भाई ! क्या तुमने इतनी भारी पीडाको भी नहीं जाना ? ॥

लक्ष्मणः-आर्य !

ईषन्मात्रमहं वेद्मि स्फुटं यो वेत्ति राघवः ।
वेदना राघवेन्द्रस्य केवलं व्रणिनो वयम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके लक्ष्मणशक्तिभेदो नाम त्रयोदशोऽङ्कः ॥१३॥

हे आर्य ! इस शक्तिकी वेदनाको मैं तो कुछ थोडी ही जानता हूँ और भलीप्रकार तो रामचन्द्रजी ही जानते हैं क्योंकि-वेदना तो श्रीरामजीको ही है मैं तो केवल घायलमात्र ही हुआ हूँ ॥ ३८ ॥

इति श्रीहनुमन्नाटके भाषाटीकायां लक्ष्मणशक्तिभेदो नाम त्रयोदशोऽङ्कः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽङ्कः ॥

ततः प्रातःकाले रावणो लोहिताक्षं दूतमाहूय समादिशति ।
रे लोहिताक्ष वानरवाहिनीं गत्वा राममिति ब्रूहि ।

**अये राम जामदग्न्यं निर्जित्य यस्त्वया
हरप्रसादपरशुर्गृहीतस्तं रावणाय प्रयच्छ
ततस्तव सीतां प्रयच्छामि ।**

तदनन्तर प्रातःकालके समय रावण लोहिताक्ष नामक दूतको बुलाकर आज्ञा करता है कि—हे लोहिताक्ष ! तू वानरोंकी सेनामें जाकर रामचन्द्रसे यह कहदे कि हे राम ! तूने परशुरामको जीतकर जो शिवकी कृपासे फरशा पाया है वह रावणको देदे तो मैं भी सीताको देदूंगा ॥

लोहिताक्षः—

**यदाज्ञापयति देवः । (इति गगन मुत्पत्य
रामशिविरे ततो रामं नमस्कृत्योपस्थितः ।)**

लोहिताक्ष—हे स्वामी ! जो आपकी आज्ञा—(ऐसा कह आकाशको उडकर रामचन्द्रजीके लश्करमें जाकर और रामचन्द्रजीको प्रणाम करके बैठगया ॥)

रामस्तं रावणदूतं ज्ञात्वा पृच्छति अये लोहिताक्ष ! किं करोति राक्षसगणः ।

रामचन्द्र उसको रावणका दूत जानकर पूछते हैं कि—अरे हे लोहिताक्ष ! राक्षसोंका समूह क्या करता है ? ॥

लोहिताक्षः—देव!

**अधाक्षीन्नो लंकामयमयमुदन्वन्तमतर-
द्विशल्यां सौमित्रेरयमुपनिनायौषधिवराम् ॥
इति स्मारंस्मारं त्वदरिनगरीभित्तिलिखितं
हनूमन्तं दन्तैर्दशति कुपितो राक्षसगणः ॥ १ ॥**

लोहिताक्षने कहा कि—हे स्वामिन् ! जिसने लंका जलादी समुद्रको पार किया और श्रेष्ठ औषधिको लाया तथा लक्ष्मणजीके निमित्त विशल्या औषधिके लानेको स्मरण कर २ के आपके शत्रुकी नगरी लंकाकी दीवारोंके ऊपर चित्र बना २ कर

हनुमान्जीको राक्षसलोग क्रोधमें होकर दाँतोंसे काटते हैं । अर्थात् पवनतनयके ऐसे २ प्रवल कार्योंको याद कर २ के गुस्सेमें होकर राक्षसगण अपने दाँत कटकटाने लगते हैं ॥ १ ॥

रामः-(विहस्य) किमर्थमागतोऽसि ।

रामचन्द्रजी-(हँसकर) तू किस कारणसे आया है ? ॥

लोहिताक्षः-

देव भृगुपतिं निर्जित्य गृहीतं हरप्रसादपरशुं
रावणाय प्रयच्छ ततस्तव सीतां समर्पयिष्यति लंकेश्वरः ॥

लोहिताक्ष-हे भगवन् ! परशुरामजीको जीतकर पायाहुआ शिवका प्रसादरूप फरसा रावणको देदीजिये तो रावण भी आपको जानकी देदेगा ॥

रामः(विहस्य) दूत पश्य ।

पौलस्त्यप्रणयेन तावकमतिं स्मृत्वा मनो मोदते
देयो नैष हरप्रसादपरशुस्तेनाधिकं ताम्यति ।
यद्वाच्यः स दशाननो मम गिरा दत्ता द्विजेभ्यो मही
तुभ्यं ब्रूहि रसातलं वलभिदे निर्जित्य किं दीयताम् ॥ २॥

रामचन्द्रजीने हँसकर कहा कि-हे दूत ! देख ! पुलस्त्यजीके वंशमें उत्पन्न हुए रावणकी नम्रतासे ऐसी बुद्धिको समझ कर हमारा चित्त वडा ही प्रसन्न होता है तथापि शिवजीकी कृपासे मिलेहुए परशुको नहीं देंगे क्योंकि, इससे वह बहुत ही दुःखको प्राप्त होगा परन्तु तू मेरी ओरसे जाकर उससे कह दे कि-इस फरसेने प्राचीन कालमें पृथ्वी जीतकर ब्राह्मणोंको दीथी और तुझको पाताल दिया अब तू ही बता कि तुझे जीतकर इन्द्रको क्या दियाजाय ? ॥ २ ॥

अथ देवराज इन्द्रः रामाय शत्रुंजयं रथवरं वितरतिस्म ।

तत्पश्चात्-देवताओंके राजा इन्द्रने रामचन्द्रजीके लिये सुन्दर और स्वर्णमयी रथ भेजा ॥

रामोपि हनूमन्तं रथध्वजाग्रमारोप्य स्वयं रथारोहणं नाटयति–तथाविधं तमालोक्य लोहिताक्षो निष्क्रान्तः ॥

रामचन्द्रजी भी हनूमानजीको रथकी ध्वजाके अग्रभागमें बैठाकर आपभी रथमें चढनेका नाट्य करते हैं–इस प्रकार इनको देख लोहिताक्ष जाता है ॥

लंकाशिखरस्थो रावणः–अये लोहिताक्ष !
कोसौ दाशरथेर्ध्वजे वर्तते ॥

लंकाके शिखर पर बैठाहुआ रावण–हे लोहिताक्ष ! दशरथ तनय रामकी ध्वजामें यह कौन बैठा है ? ॥

लोहिताक्षः–देव !

हेलोल्लंघितवारिधिर्जनकजाविश्लेषशुष्यन्मनः–
कौसल्यासुतदैन्यपाटनपटुर्ग्रस्तांशुभूमण्डलः ।
निर्दग्धाखिलराक्षसेन्द्रनगरः सौमित्रिसंजीवना–
योत्खातौषधिपर्वतश्च मरुतः पुत्रो ध्वजे वर्तते ॥ ३ ॥

लोहिताक्ष–हे स्वामिन् ! क्रीडा ही करके समुद्रको लाँघनेवाला, जानकीके विश्लेष (वियोग) में शुष्क हुआ है मन जिनका ऐसे कौशल्याकुमार राम चन्द्रजीकी दीनताको नष्ट करनेमें चतुर, सूर्यमण्डलको पकडनेवाला, राक्षसपति रावणकी समस्त लंकाको जलानेवाला, और लक्ष्मणजीकी प्राणरक्षाके लिये द्रोणाचल पर्वतको उखाडनेवाला पवनपुत्र हनूमान् ध्वजामें बैठा है ॥ ३ ॥

रावणः–

(सत्वरं मन्दोदरीमन्दिरं प्रविश्य) अयि मन्दोदरि !
रामाय प्रतिपक्षवृक्षशिखिने दास्यामि वा मैथिलीं
युद्धे राघवसायकैर्विनिहतः स्वर्गं गमिष्यामि वा ।

नीतिज्ञे कथयस्व देवि कतमः पक्षो गृहीतस्त्वया
सुश्लाघ्यं पदमस्मदीयमगमन्मन्मात्रशेषं बलम् ॥ ४ ॥

रावण-(जल्दीसे मन्दोदरीके महलमें जाकर) अरी मन्दोदरी ! शत्रुके पक्षरूप वृक्षोंके निमित्त वह्निकी तुल्य रामचन्द्रको जानकी ही देदूँ, या संग्राममें रामचन्द्रके बाणोंसे प्राणहीन होकर स्वर्गको जाऊँ ? हे नीतिज्ञे देवि ! कहो तो इन दोनों पक्षोंमेंसे कौनसा पक्ष तुमको अच्छा लगता है सो मुझे बताओ और अब केवल एक ही मैं बचा हूँ और सब सेना नष्ट होगई ॥ ४ ॥

मन्दोदरी-(विहस्य)

अयि प्राणनाथ लंकेश्वर !
दृष्ट्वा दैन्यं भगिन्याः श्रुतखरनिधनं मातुलस्यापि नाशं
तालानां भेदनं यत्कपिवरदहनं बद्धसुग्रीवसख्यम् ।
कर्माण्युद्यानभङ्गे जलनिधितरणं यो न जातस्तदानीं
सोऽयं नष्टे कुलेऽस्मिन्कथमिव गमितो जायते ते विवेकः ॥ ५ ॥

मन्दोदरी-(हँसकर) हे प्राणपते लंकानाथ ! अपनी बहिन सूर्पणखाकी दीनताको देखकर, खरकी मृत्युको सुनकर, अपने मामा मारीचके वधको देखकर, तालके वृक्षोंका भंग देखकर, हनुमान्‌जीसे लंकाके जलानेको तथा सुग्रीवकी मित्रताको देखकर, अशोक वाटिकाके नष्ट करनेमें अक्षय कुमार आदिके वधको और समुद्रके पार होनेको भी देखकर जो ज्ञान आपको उस समय नहीं हुआ था अब समस्त कुलके नष्ट होजानेपर आपको ये ज्ञान कैसे उत्पन्न होगया ? ॥ ५ ॥

रावणः-(सापत्रपं साभ्यसूयम्)

धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ।
धिक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटाञ्जीवत्यहो रावणः ॥ ६ ॥

रावण—(लज्जासहित असूयासे) इन्द्रविजयी मेघनादको धिक्कार है और जगाए हुए कुम्भकर्णसे भी क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? स्वर्गरूप छोटेसे ग्रामके विजय करनेमें पराक्रमशाली मेरी भुजाओंसे भी क्या है ? और मुझको तो यही धिक्कार है कि–जो मुझ रावणके भी शत्रु हैं और वहभी तपस्वी और वह तपस्वी भी मेरे स्थानपर ही आकर राक्षस योद्धाओंको मारते हैं, यह एक बडे ही दुःखकी बात है तौ भी कोई हानि नहीं अब भी तो रावण जीता ही है ॥ ६ ॥

मन्दोदरी–(सकरुणम्)

शोकं लंकेश मागाः कुरु चिरमपुनर्मा विगूढोपगूढं
देवाज्ञां देहि योद्धुं समरमवतराम्यस्मि सुक्षत्रिया यत् ॥

मन्दोदरी–(करुणासे) हे लंकाधिपते ! शोक न करिये फिर न होनेवाले आलिङ्गनको कीजिये मैं अच्छे क्षत्रियकी संतान हूँ इसकारण मुझे युद्ध करनेकी आज्ञा दीजिये ॥

रावणो विदीर्यमाणहृदयः–

मैवं कान्ते स्वकान्ते तरुणय करुणां प्राणरङ्कः किमेको
लंकां सन्त्यज्य शंकां शिव शिव समरायोद्यतो राक्षसेन्द्रः ॥ ७ ॥

रावण–हृदयमें दुःखित होकर कहनेलगा कि–हे कान्ते ! तू अपने पति मुझ रावणमें इतनी भारी करुणाको प्रकट न कर । प्राणोंका कंगाल एक मैं ही राक्षसराज रावण ? शिव ! शिव ! लंकाको और शंकाको त्यागकर युद्ध करनेको उद्यत हूँ ॥ ७ ॥

अथ रामाज्ञया वानरभटाः–

उद्यद्दिक्पालकोलाहलबहलमदावग्रहोग्राभिरक्षणां
ताराभिर्दीप्यमानं दिशि विदिशि दशग्रीवमुद्ग्रीवयन्तः ।
एते निःशेषसेतुग्रथनसमधिकैः शस्त्रिणः शैलपादै-
रुह्यमानः कपीन्द्रा रजनिचरपुरीमुत्तरेण प्लवन्ते ॥ ८ ॥

इसके उपरान्त रामचन्द्रजीकी आज्ञासे, रावणके मरणको देखनेके निमित्त आये-हुए दिक्पालोंके कल २ शब्दसे बढेहुए मदके विरोधसे उग्रताको प्राप्त हुए, शृंखलारहित, नेत्रोंके ताराओंसे देदीप्यमान रावणको दिशा विदिशाओंमें नष्ट करनेकी इच्छासे सेतु बाँधने पर भी बचेहुए पर्वत और वृक्षरूपी शस्त्रोंको धारण करेहुए वीर वानरोंने उत्तर दिशाके मार्गसे लंकाको रोक लिया ॥ ८ ॥

जलमध्ये रुद्रपादाद्रिशिखरगतो रामरावणयो-
र्युद्धं निरीक्ष्यमाणो रुद्रः कपिभटैः संवेष्टितां
लंकां विलोक्य ॥

जलमें कैलाश पर्वतके ऊपर बैठेहुए रामचन्द्र और रावणके युद्धको देखनेवाले महादेवजी शूरवीर वानरोंसे घिरी लंकाको देखकर ॥

मरुद्रुद्रादित्यौ शतमुखमुखास्ते क्रतुभुजः
पुरद्वारे यस्याः सभयमुपसर्पन्त्यनुदिनम् ।
प्रकोपव्याधेर्याधरतटपुटैर्वानरभटैः
समाक्रान्ता सेयं शिव शिव दशग्रीवनगरी ॥ ९ ॥

पवन, रुद्र, सूर्य, इन्द्र आदिक देवता जिस (रावण) के द्वारपर भयसे प्रतिदिन उपस्थित होते हैं शिव ! शिव ! वही यह दशानन रावणकी लंका नाम नगरी आज क्रोधसे कम्पायमान अधर तट और नासापुटवाले वीर वानरोंने कैसे घेरली यह बडे ही आश्चर्यकी बात है ॥ ९ ॥

अस्त्रं यत्प्लवगाधिपेन विहितं पौलस्त्यवक्षस्तटे
संघट्टानलदत्तदावविपदः सीदन्ति भूमीरुहाः ।
उत्पाट्य प्रहिताः स्वशैलशिखरे लंकेन्द्रहस्तावली-
पिष्टोऽयं निजकुण्डनिर्झरजलैर्जम्बालपिण्डायते ॥ १० ॥

वानराधीश सुग्रीवने जो शस्त्रको छोडा तो उससे रावणके वक्षःस्थलमें रगडनेसे उत्पन्न हुए अग्निसे विपत्तिको प्राप्त होनेवाले वृक्ष भस्म होनेको—और रावणने

त्रिकूटाचलके शिखरको उखाड कर प्रहार किया तो लंकेश्वर रावणके हाथसे मसले जाकर यह शिखर सिवारके कुण्डकी समान होगये ॥ १० ॥

तथैतेनोद्धृत्य स्फटिकशिखरी सोपि विदधे
समन्तादामूलत्रुटितवसुधाबन्धविधुतः ।
अमुं येनाद्यापि त्रिपुरहरनृत्यव्यतिकरः
पुरस्तादन्येषामपि शिखरिणामुल्लसयति ॥ ११ ॥

तिस ही प्रकार इस रावणने स्फटिकका शिखर उखाड कर उसको चारोंओर से मूलतक टूटे हुए पृथ्वीके बन्धसे कम्पित करादिया और वह स्फटिकका शिखर भी आजतक उस उखाडनेसे और पर्वतोंके भी आगे इस रावणके त्रिपुरारि शंकरके क्रोधपूर्वक नृत्यको स्मरण करता है ॥ ११ ॥

रावणः (सक्रोधम्) रथारोहणं नाटयति–

भेरीमर्दलशंखतालनिकरस्वानोल्लसत्काहलो
निःसाणस्वनपूर्णकर्णकुहरो निर्यन्नगर्या बभौ ।
युद्धार्थं दशकन्धरो रथगतो माणिक्यमौलिर्यशो-
दीपादीपितमस्तको जनकजारामो विधेः कर्मणा ॥ १२ ॥

रावण–(क्रोधसे) रथमें बैठनेका नाटय करता है।

रथमें बैठाहुआ मणियोंसे युक्त मस्तक वाला, कीर्तिकी किरणोंसे प्रकाशित वाला और जनकतनया सीतामें कामनायुक्त दशग्रीव रावण दैवकी प्रेर- भेरी, मर्दल, शंख, और तालके समूहोंके नादसे वृद्धिको प्राप्त हुआ लंकासे निमित्त निकल कर शोभा देनेलगा ॥ १२ ॥

नीचैर्ववौ परिमितः पवनो वनेषु
मन्दीचकार तरणिः खरतां करेषु ।
रक्षःपतिं गगनमाप्तमवेक्ष्य साक्षा-
न्नद्यो ययुः स्थगिततुंगतरङ्गभंगाः ॥ १३ ॥

साक्षात् निशाचरराज रावणको आकाशमण्डलमें प्राप्त हुवा देखकर वनोंमें वायु परिमित होकर धीरे २ चलनेलगा, भगवान् सूर्यनारायणने भी अपनी किरणोंमें तीक्ष्णताको मंद करादिया और नदियें चंचलतासे रहित तरंगवाली होकर बहनेलगीं १ ३॥

आकाशे-

यदा नीलो लंकाधिपसुभटकोदण्डशिखरे
स्थितश्चश्वद्बाष्पाकलितमृगतृष्णान्वितगिरिः ।
तदैवं देवानां मतिरजनि दिङ्मण्डलजुषां
धनुःशृङ्गे भृङ्गस्तदुपरि गिरिस्तत्र जलधिः ॥ १४ ॥

(आकाशमें) जिस समय बहतेहुए आँसुओंसे युक्त मृगतृष्णावाले पर्वतसहित नील वानर लंकेश्वर सुभट रावणके धनुषके शिखरपर स्थितहुआ उस समय दिशाओंके मण्डलमें स्थित देवताओंकी यह बुद्धि हुई कि-धनुषके शृंगपर तौ भौंरा है और भौंराके ऊपर पर्वतहैं और उस पर्वतके ऊपर समुद्र है ॥ १४ ॥

साश्चर्यं तत्र रामे सपटु भटमुखे सव्यथं देवतौघे
साशंकं रामयुद्धे कपिषु सविनयं लक्ष्मणे साश्रुपूरम् ।
सासूयं भ्रातृकृत्ये सभयमनिलजे सत्रपं चात्मकृत्ये
क्षिप्रं तद्वक्त्रचक्रं रजनिचरपतेर्भिन्नभावं बभूव ॥ १५ ॥

उस समय रामचन्द्रमें तो आश्चर्यसे और मुख्य योधाओंमें निपुणतासे, देवताओंकी स्तुतिमें व्यथासे, रामचन्द्रजीके युद्धमें शंकासे, वानरोंमें नम्रतासे, लक्ष्मणजीमें आँसू भरकर, भ्राता विभीषणकी कर्तव्यतामें निंद्रासे, पवनके पुत्र हनुमान्जीमें भयसे और निज कर्तव्यतामें लज्जासे, निशिचरनाथ रावणका मुखमण्डल शीघ्र ही भिन्न २ भावका आश्रय करनेलगा ॥ १५ ॥

बद्ध्वा तूणान्दशोच्चैर्मघवहयसटावेणिबन्धेनवामै-
र्दोर्भिश्चापान्विधुन्वन्दशदश च शरान्दक्षिणैराददानः ।

---

१ अद्भुत, वीर, शान्त, शृंगार, करुणा, रौद्र, वत्सल, हास्य, भयानक, बीभत्स, यह रस क्रमानुसार इस श्लोकमें रावणके मुखविकारके भावसे जानेगये ॥

क्ष्वेडन्क्रीडन्प्रकुप्यन्प्रसरदभिभवद्वर्जितातर्जितौघैः
शश्वत्खिद्यन्मुखश्रीरवतरति रणप्राङ्गणे राक्षसेन्द्रः ॥ १६ ॥

इन्द्रके घोडोंके कण्ठके केशोंको वेणीके बन्धनसे बडे २ दश तर्कशोंको बाँधकर बायीं दशभुजाओंसे दश धनुषोंको कँपाता हुआ और दक्षिण भुजाओंसे दश दश बाणोंको ग्रहण करता हुआ हँसीके साथ खेल करता हुआ क्रोधित और सन्तत खिन्न होती हुई मुखकी कान्तिवाला राक्षसपति रावण ललकारनेकी गर्जनाके समूहोंके साथ सन्मुख होताहुआ संग्रामभूमिमें आया ॥ १६ ॥

रामरावणयोः–

रणाङ्गणे कुण्डलिनो युवानः परस्परं सायकभिन्नदेहाः ।
कुचाग्रलग्ना इव कामिनीनां कुम्भाग्रलग्नाः सुषुपुर्गजानाम् ॥ १७॥

उस राम रावणके घोर युद्धमें कुण्डलोंको धारण किये युवा वीर पुरुष आपसमें बाणोंसे शरीरके विदीर्ण होनेके कारण हाथियोंके गण्डस्थलसे लगेहुए मानो अङ्गनाओंके कुचाग्रसे लगकर सोगए ॥ १७ ॥

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥ १८ ॥

आकाश तो आकाशकी ही समान आकारवाला है और समुद्रको समुद्रकी ही उपमा दीजासकती है, इसी भाँति श्रीरामचन्द्रजी और रावणका युद्ध रामचन्द्र और रावणके ही युद्धकी समान है । अर्थात् जैसे विस्तार में आकाशकी उपमा नहीं और जैसे गंभीरतामें समुद्रकी उपमा नहीं है ऐसे ही भयानकतामें राम रावणके युद्धकी भी कोई उपमा नहीं है ॥ १८ ॥

तत्र सारो नाम राक्षसस्तुमुलयुद्धे–

आरूढस्तु यावद्व्रजति न शिबिरं वाजिनः पूर्वमर्धं
धावन्तं खण्डितस्य स्वमरिकुलबलात्पादयुग्मेन धीरः ।

सारः क्रव्यादवीरः शिरसि करतलोत्थापितेनाङ्गदेन
क्रुद्धेनाताड़ितो द्राक् शिव शिव समरे पश्चिमार्द्धेन तावत्॥ १९॥

(उस समय–सार नामक राक्षस घोर युद्धमें) जबतक राक्षस वीर सार राक्षस बीचमेंसे खंडित हुए घोडेके पहिले भागके आधे शरीर पर चढकर अपने दोनों पैरोंसे शत्रुकी सेनाके निकटसे निज शिविरमेंको दौडकर नहीं पहुँचने पाया तबतक क्रोधकरके अंगदजीनें उस घोडेके पिछले आधे भागके शरीरको उठाकर जल्दीसे उसके मस्तकमें दे मारा शिव ! शिव ! यह बडा ही कष्ट हुवा ॥ १९ ॥

अङ्गदः (वा) रावणः–

यावानब्धिः कलशशिशुना तावता किं च पीतः
तुल्याकारान्प्रहरति हरिः किं खगानद्रितुङ्गान् ।
तत्रागम्याः प्रथितवपुषः सन्तु तिग्मस्वभावा-
स्तेषां ग्रासग्रहणरभसं राम ते नामधेयम् ॥ २० ॥

अंगद–(या) रावण–जितने विस्तार वाला समुद्र है क्या उतने ही वडे अगस्त्यजीने उसे पान किया था ? और क्या इन्द्रने अपने ही समान आकृतिके परवाले छोटे पर्वतों पर प्रहार किया था ? किन्तु अपने आप छोटा होनेपर सूर्यनारायण पर्यन्त ऊँचे पर्वतोंके पक्षोंको काटा । इसमें अगाध समुद्र और वडे आकारवाले पर्वत स्वाभाविक तेजस्वी अगत्स्यादिक रहैं, किन्तु हे रामचन्द्रजी ! उन सबको ग्रहण करनेके निमित्त आपका यह रामनाम है ॥

दूसरा अर्थ रावण कहने लगा कि–अगस्त्यजी सम्पूर्ण समुद्रको पीगये इससे हमारी क्या हानिहुई ? और इन्द्रने पर्वतोंके पक्ष काटे तौ उससे क्या हुआ ? कारण कि–इन्द्रको तौ मेरे पुत्र मेघनाद ही ने बाँधलिया था । हे राम ! तुमने बृहत्काय राक्षसोंको नष्ट किया तौ क्या हुआ ? कीर्तियुक्त वडे शरीरवाले तीक्ष्ण स्वभावी उपस्थित हैं । तुम इन बहुतसे थोडे राक्षसोंको देखते हो, परन्तु उन तीक्ष्णस्वभाववालोंको तुम्हारा नाम और सेना ग्रास ग्रहण करनेको कुछ भी नहीं है ॥ २० ॥

रावणः-

स्त्रीमात्रं ननु ताडका मुनिसुतो रामः स विप्रः शुचि
र्मारीचो मृग एव भीतिभवनं वाली पुनर्वानरः ॥
भो काकुत्स्थ विकत्थसे वद रणे वीरस्त्वया को जितो
दोर्गर्वस्तु तथापि ते यदि पुनः कोदण्डमारोपय ॥ २१ ॥

रावण—ताडका एक स्त्री थी, मुनिके पुत्र ब्राह्मण परशुराम स्वभावसे ही पवित्र रहते थे। और मारीच डरका घर एक मृग था, और वाली वानर था। यही तो तुमने जीते हैं। हे काकुत्स्थ! तौ भी तुम अपनी बडाई ही करते हो कहो तो तुमने कौनसा वीर जीता है? और इतने पर भी जो तुम्हें अपने भुजदण्डोंका घमण्ड है तो फिर धनुषको चढालो॥ २१॥

अत्रान्तरेऽङ्गदः-

वन्द्यास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्ततां
सुन्दस्त्रीदमनेप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीणि कुतो मुखान्यपि पराण्यासन्खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥ २२ ॥

इसी अवसरमें अङ्गदजी बोले कि—वन्दना करनेयोग्य ये रामचन्द्र आदिक महापुरुष जिनका चारित्र विचारना ही न चाहिये वह तो एक ओर रहे—क्योंकि—ताडकाके वध करनेसे भी उनका यश मैला न हुआ वे जगत्में बडे ही पुरुष माने जाते हैं यदि उनके पराक्रमको ही सुनना चाहता है तो उस तीन मुखवाले त्रिशिराके शिर किसने छेदन किये और तुझे काँखमें रखनेवाले वालीको जैसे मारा सो तू जानता ही है॥ २२॥

रावणः-

शंभोः पर्वतकन्दुकेन महती क्रीडा कृता येन तं
रे रे मानव राम मा स्मर भवं देवेश्वरं रावणम्।

ज्याघोषं कुरु ताडकान्तमसुराणामन्तकं संयुगे
यश्चानीतिसमग्रधीरकुटिलः शाखामृगाणां पतिः ॥ २३ ॥

रावण–अरे हे मनुष्य राम! शिवजीके कैलास पर्वतको गेंदकी समान मैंनें उठालिया था ऐसे मुझको और देवराज शिवजी महाराजको भी स्मरण कर और ताडकाके नाशक, संग्राममें असुरोंके नाशक तथा परम अनीति करनेवाले वानरपति वालीका भी अन्त करनेवाले धनुषकी प्रत्यंचाकी टंकार कर ॥ २३ ॥

रामस्तथापि तं रावणं न जघान। लज्जावनम्रव-
दनाम्बुजः सन् मनाक् स्थितः रावणः
(विहस्य) रे रे मानव राम !

रामचन्द्रने तौ भी रावणके ऊपर प्रहार नहीं किया रावण लज्जासे नम्र मुखकमलवाला थोडी देर स्थित होकर (हँसकर बोला) अरे रे मनुष्य राम!

यो मया निहतो घोरे समरे तव पूर्वजः।
अनरण्यः किमद्य त्वां व्यथयत्यथ लज्जितः ॥ २४ ॥

मैने जो पहिले तेरे पूर्वज अनरण्यको घोर संग्राममें माराथा क्या आज तुझे वह पीडा देता है? और तू उससे लजित है ॥ २४ ॥

रामः–(निःशंकम्) रे रे राक्षसाधम पश्य ?
न दूये नः पूर्वं नृपतिमनरण्यं यदवधी-
र्जयो वा मृत्युर्वा युधि भुजभृतां कः परिभवः।
जितं मन्ये कारागृहविनिहतं हैहयपतेः
पुलस्त्यो यद्भिक्षामकृत कृपणं तद्व्यथयति ॥ २५ ॥

(रामचन्द्र निःशंक होकर) अरे हे राक्षसोंमें अधम! देख? पूर्वमें जो तूने हमारे वृद्ध अनरण्यका वध किया था इससे मुझे कुछ भी दुःख नहीं है क्योंकि–बलवान् राजाओंकी समरमें विजय होती है या मृत्यु होती है, युद्धमें भुजा उठाने वालोंका तिरस्कार कैसा? अर्थात् बलवानोंकी पराजय नहीं होती और मै जीते हुए तुझको

तो कारागारमें बँधाहुआ मानता हूं जिस तेरी भीख दीन होकर पुलस्त्यजीने सहस्र-बाहुसे माँगी थी वह भिक्षा मुझे पीडा देती है, अर्थात् भीखमें मांगे हुए तुझको वध करता हुआ मैं लज्जाको प्राप्त होता हूं ॥ २५ ॥

यो रामो न जघान वक्षसि रणे तं रावणं सायकैः
स श्रेयो विदधातु वस्त्रिभुवनव्यापारचिन्तापरः ।
हृद्यस्य प्रतिवासरं वसति सा तस्यास्त्वहं राघवो
मय्यास्ते भुवनावली विलसिता द्वीपैः समं सप्तभिः ॥२६॥

इस रावणके हृदयमें प्रतिदिन वह जानकी वास करती है और जानकीके हृदयमें मैं निवास करताहूं और मुझ रामचन्द्रमें सातों द्वीपोंके सहित चौदह भुवनोंकी पंक्ति विलास करती है । ऐसा विचार कर जिन महाराज रघुवंशी रामचन्द्रजीने बाणों करके रावणके हृदयमें प्रहार नहीं किया वह त्रिलोकीके व्यापारकी चिन्तामें तत्पर श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारा कल्याण करें ॥ २६ ॥

"स प्रौढरावणरुषा विहितावलेपः
सज्जो बभूव दृढसङ्गरबद्धदीक्षः ।
आपन्नभीतिहरणं व्यवसायिनां हि
प्राणास्तृणं विपुलसत्त्वसहायभाजाम् ॥ २७ ॥

"रावणके बढेहुए क्रोधकरके जिनको अहङ्कार प्राप्त हुआ है, समरकी दीक्षामें दृढ वह रामचन्द्रजी युद्ध करनेको कटिबद्ध हुए, यह ठीक है कि उपस्थित भयके दूर करनेके समय महापराक्रमरूप सहायवाले उद्योगी पुरुषोंके प्राण तृणकी समान होते हैं । अर्थात् उद्योगी जन भयको दूर करनेके समय अपने प्राणोंको तृणकी समान समझलेते हैं ॥ २७ ॥

तत्र रामो रतिं लेभे न प्रियाविरहार्दितः ।
तत्सत्यं मनसि स्वस्थे रम्याणां रमणीयता" ॥ २८ ॥

उस समय रामचन्द्रजी समरमें कुछ आनन्दको प्राप्त न हुए क्योंकि उस समय अपनी प्रिया सीताजीके वियोगमें क्लेशित हो रहे थे, यह बात ठीक है कि-सावधान चित्तमें ही मनोहर वस्तुकी रमणीयता जान पडती है अन्यथा नहीं" ॥ २८ ॥

बाणोऽयं मम ताटकात्मशिरसि स्नातः स्वसुर्नासिका-
प्राणायामपरः खरत्रिशिरसां हुत्वा दशास्याहुतिम् ॥
मारीचं च बलिं विधाय तदनु त्वाचम्य वारांनिधिं
भोक्तुं रावणमामिषं मृगयते भो दीयतां मैथिली ॥ २९ ॥

हे रावण ! यह मेरा बाण ताडकाके रक्तमें स्नान करचुका है और तेरी बहिन सूर्पणखाकी नाक काटना रूप प्राणायाम करचुका है, हे दशानन ! खर और दूषण, त्रिशिराकी आहुतिका हवन करके मारीचका बलिदान किया और तदनन्तर समुद्रमें आचमन करके अब रावणके मांसको खानेके लिये ढूँढता फिरता है सो तू अब भी सीताको देदे ॥ २९ ॥

रावणस्तथापि सावज्ञम्-

क्लीबानामेव युद्धेषु प्राणत्राणाय राम धीः ।
लज्जाप्रशान्त्यै संसत्सु मूर्खाणामिव मूकता ॥ ३० ॥

(रावण तौभी अपमान करके) हे राम ! सभाओंमें मूर्खोंके गूंगे बनकर बैठनेकी समान समरमें प्राणोंकी रक्षाके लिये जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह बुद्धि नपुंसक पुरुषोंकी ही होती है वीरोंकी नहीं ॥ ३० ॥

(गगनमण्डलमवलोक्य-)

रे काल त्वमकाललब्धविभवः स्वैरं सकामो भव
शंभो भूषय नूतनैः शवशिरोमाल्यैर्निजाङ्गं मुहुः ।
किं च त्वं च विरिञ्च संचिनु जगत्सर्गाय बीजं क्वचित्
सन्नद्धः करवालभीषणभुजो युद्धाय लंकेश्वरः ॥ ३१ ॥

तो कारागारमें बँधाहुआ मानता हूं जिस तेरी भीख दीन होकर पुलस्त्यजीने सहस्र-वाहुसे माँगी थी वह भिक्षा मुझे पीडा देती है, अर्थात् भीखमें मांगे हुए तुझको वध करता हुआ मैं लज्जाको प्राप्त होता हूं ॥ २५ ॥

यो रामो न जघान वक्षसि रणे तं रावणं सायकैः
स श्रेयो विदधातु वस्त्रिभुवनव्यापारचिन्तापरः ।
हृद्यस्य प्रतिवासरं वसति सा तस्यास्त्वहं राघवो
मध्यास्ते भुवनावली विलसिता द्वीपैः समं सप्तभिः ॥२६॥

इस रावणके हृदयमें प्रतिदिन वह जानकी वास करती है और जानकीके हृदयमें मैं निवास करताहूं और मुझ रामचन्द्रमें सातों द्वीपोंके सहित चौदह भुवनोंकी पंक्ति विलास करती है । ऐसा विचार कर जिन महाराज रघुवंशी रामचन्द्रजीने वाणों करके रावणके हृदयमें प्रहार नहीं किया वह त्रिलोकीके व्यापारकी चिन्तामें तत्पर श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारा कल्याण करैं ॥ २६ ॥

"स प्रौढरावणरुषा विहितावलेपः
सज्जो बभूव दृढसङ्गरबद्धदीक्षः ।
आपन्नभीतिहरणं व्यवसायिनां हि
प्राणास्तृणं विपुलसत्त्वसहायभाजाम् ॥ २७ ॥

"रावणके बढेहुए क्रोधकरके जिनको अहङ्कार प्राप्त हुआ है, समरकी दीक्षामें दृढ वह रामचन्द्रजी युद्ध करनेको कटिबद्ध हुए, यह ठीक है कि उपस्थित भयके दूर करनेके समय महापराक्रमरूप सहायवाले उद्योगी पुरुषोंके प्राण तृणकी समान होते हैं । अर्थात् उद्योगी जन भयको दूर करनेके समय अपने प्राणोंको तृणकी समान समझलेते हैं ॥ २७ ॥

तत्र रामो रतिं लेभे न प्रियाविरहार्दितः ।
तत्सत्यं मनसि स्वस्थे रम्याणां रमणीयता" ॥ २८ ॥

उस समय रामचन्द्रजी समरमें कुछ आनन्दको प्राप्त न हुए क्योंकि उस समय अपनी प्रिया सीताजीके वियोगमें क्लेशित हो रहे थे, यह बात ठीक है कि—सावधान चित्तमें ही मनोहर वस्तुकी रमणीयता जान पडती है अन्यथा नहीं" ॥ २८ ॥

बाणोऽयं मम ताटकात्मशिरसि स्नातः स्वसुर्नासिका-
प्राणायामपरः खरत्रिशिरसां हुत्वा दशास्याहुतिम् ॥
मारीचं च बलिं विधाय तदनु त्वाचम्य वारांनिधिं
भोक्तुं रावणमामिषं मृगयते भो दीयतां मैथिली ॥ २९ ॥

हे रावण ! यह मेरा बाण ताडकाके रक्तमें स्नान करचुका है और तेरी बहिन सूर्पणखाकी नाक काटना रूप प्राणायाम करचुका है, हे दशानन ! खर और दूषण, त्रिशिराकी आहुतिका हवन करके मारीचका वलिदान किया और तदनन्तर समुद्रमें आचमन करके अब रावणके मांसको खानेके लिये ढूँढता फिरता है सो तू अब भी सीताको देदे ॥ २९ ॥

रावणस्तथापि सावज्ञम्–

क्लीबानामेव युद्धेषु प्राणत्राणाय राम धीः ।
लज्जाप्रशान्त्यै संसत्सु मूर्खाणामिव मूकता ॥ ३० ॥

(रावण तौभी अपमान करके) हे राम ! सभाओंमें मूर्खोंके गूंगे बनकर बैठनेकी समान समरमें प्राणोंकी रक्षाके लिये जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह बुद्धि नपुंसक पुरुषोंकी ही होती है वीरोंकी नहीं ॥ ३० ॥

(गगनमण्डलमवलोक्य–)

रे काल त्वमकाललब्धविभवः स्वैरं सकामो भव
शंभो भूषय नूतनैः शवशिरोमाल्यैर्निजाङ्गं मुहुः ।
किं च त्वं च विरिञ्च संचिनु जगत्सर्गाय बीजं क्वचित्
सन्नद्धः करवालभीषणभुजो युद्धाय लंकेश्वरः ॥ ३१ ॥

(आकाशकी ओरको देखकर) अरे हे काल ! तू आज अकालमें ही ऐश्वर्यको पाकर स्वच्छन्द और सन्तुष्ट होजा अर्थात् आज सबको अकालमें ही मारडालूँगा । हे कल्याणरूप महादेव ! तुम भी आज नये २ मुण्डोंकी मालाओंसे दूसरीवार अपने शरीरको अलंकृत करो, भो ब्रह्मन् ! तू भी अन्य संसारकी रचनाके लिये किसी बीजको चुनले क्योंकि तलवारसे भयानक भुजाओंवाला लंकाधिपतिरावण युद्धके लिये उद्यत है अर्थात् अब जगत्का बीज नाशकर डालूँगा ॥ ३१ ॥

राममाक्षिपति-

अद्य वा जानकी राम कामं पास्यति मन्दिरे ।
रणे वा दारुणो गृध्रो मधुरानधरान्मम ॥ ३२ ॥

(रामचन्द्रजीपर आक्षेप करता है) रामचन्द्र ! क्या तो आज राजमहलमें जानकी ही मेरे अधरोंका पान करेगी या इस घोर संग्राममें गिद्ध ही मेरे मधुर अधरोंका पान करेंगे अर्थात् जो मैं जीतगया तो जानकीके साथ विहार करूँगा और जो हारा तो मुझे गृध्र भक्षण करेंगे ॥ ३२ ॥

तत्राशोकवनिकास्थितविमानमारुह्य जानकीं रामराव-णयोर्युद्धं दर्शयति त्रिजटा सरमा च । मन्दोदर्यपि सुन्दरीपरिवृता लंकाचलशिखरमारुह्य पश्यति । रुद्रोपि समुद्रमध्ये एकेन चरणेनोपस्थितो युद्धं पश्यति । देवाः सर्वे विमानाधिरूढा नभोमण्डलगता युद्धं पश्यंतिस्म ॥

त्रिजटा और सरमा उस अवसरमें अशोकवाटिकामें स्वर्ग विमानमें चढकर जानकीको रामचन्द्र और रावणका युद्ध दिखानेलगीं । उधर मन्दोदरी भी सुन्दर सखियोंके साथ त्रिकूटाचलके शिखरके ऊपर चढकर देखनेलगी। शिवजी महाराजभी। समुद्रमें एक चरणसे खडे होकर संग्रामको देखनेलगे । समस्त देवगण भी विमानोंमें बैठकर आकाशमण्डलमें आकर युद्धको देखनेलगे ॥

रामः-संहारभैरव इव क्रोधं नाटयति ।

रे रे निशाचरपते त्वरितं गृहाण बाणासनं त्रिदशदर्पहरं शरं च ।
निर्वापयामि विरहाग्निममुं प्रियाया मन्दोदरीतरलनेत्रजलप्रवाहैः ३३॥

रामचन्द्रजी प्रलयकालमें भैरवकी समान क्रोधका नाटय करते हैं । रे रे राक्षसराज रावण ! तू शीघ्र ही देवताओंके अहंकारको नाश करनेवाले वाणोंको छोडनेवाले धनुषको ग्रहण कर और मैं आज मन्दोदरीके चपल चक्षुओंके जलोंके प्रवाहोंसे अपनी प्रिया जानकीकी वियोगरूप अग्निको शीतल करूँगा ॥ ३३ ॥

(इति बाणान् स्पृशति) मन्दोदरी (सभयम्)-

उत्पादयन्किमपि कौणपकौटिमन्त-
स्तेजोहुताशनसमिन्धनसामिधेनीम् ।
हस्ताह्कीयकृत बालतरः पृषत्कै-
रीषज्जयं स्फुटमनेन दशाननोऽपि ॥ ३४ ॥

(ऐसा कहकर वाणोंको छूते हैं) मन्दोरी (डरकर) जिस समय ये रामचन्द्र बहुत बालक ही थे उस समय वाणोंसे ताडकाके हृदयकी अग्निमें अनेक राक्षसोंको हवन करादिया था और अब तो यह युवा और लघुहस्त हैं इस कारण रावणको सहजमें ही जीतलेंगे यह वडा ही कष्ट है ॥ ३४ ॥

(रामभुजदण्डौ)

आकृष्टे युधि कार्मुके रघुपतेर्वामोऽब्रवीद्दक्षिणं
दानादानसुभोजनेषु पुरतो युक्तं किमित्थं तव ।
वामान्यः पुनरब्रवीन्मम न भीः प्रष्टुं जगत्स्वामिनं
छेत्तुं रावणवक्त्रपंक्तिमिति यो दद्यात्स वो मंगलम् ॥ ३५॥

(रामचन्द्रजीकी दोनों भुजा) जिस समय रामचन्द्रजीने रणमें धनुषको खींचा उस समय बायाँ हाथ दायें हाथसे बोला कि-दान करनेमें और किसी वस्तुको लेनेमें

और भोजन करनेके समय तो तुम अगाडी खडे रहते थे और अब पीछे क्यों हटते हो ? यह योग्य नहीं है । ऐसा सुनकर दायाँ हाथ बोला कि—मुझको डर तो किसी बातका नहीं है परन्तु मैं रावणके मुखकी पंक्तियोंको काटनेके लिये जगन्नाथ रामचन्द्रजीसे पूँछता हूँ । इसप्रकार कहता हुआ वह रामचन्द्रजीका हाथ सबका कल्याण करै ॥ ३५ ॥

कुशिकसुतसपर्यादृष्टदिव्यास्त्रमन्त्रो
भृगुपतिसहयोद्धा वीरभोगीनबाहुः ।
दिनकरकुलकेतुः कौतुकोत्तानचक्षु-
र्बहुमतरिपुकर्मा कौतुकी रामदेवः ॥ ३६ ॥

(रामचन्द्र) कुशिकनन्दन विश्वामित्रजीकी पूजासे दिव्य अस्त्र तथा मंत्रोंके देख-नेवाले और महाराज परशुरामजीके साथ युद्ध करनेवाले वीरोंका भोग करनेके योग्य भुजाओंवाले, सूर्यवंशकी ध्वजारूप कौतुकसे ऊपरको नेत्र उठानेवाले और भलीभाँति विदित है शत्रुओंका पराक्रम जिनको ऐसे महाराज रामचन्द्रजी युद्ध करनेको चले ॥ ३६ ॥

यद्रावणो बहुभिरेव भुजैः करोति
तद्राघवः प्रतिकरोति भुजद्वयेन ।
कर्मद्वयं यदपि तुल्यफलं तथापि
रक्षःपतेर्दशगुणं नरवीरतुल्यम् ॥ ३७ ॥

रावण जो कुछ कार्य बीस भुजाओंसे करता है उसका बदला श्रीरामचन्द्रजी अपनी दोही भुजाओंसे करते हैं यद्यपि दोनोंके कर्मका फल समानहीहै तो भी राम-चन्द्रजीके कर्मका फल निशाचरपति रावणसे दशगुणा अधिक है ॥ ३७ ॥

तत्र मन्दोदरी जानकी च—

रे रावणास्तमुपयातु सह त्वयार्कः
श्रीराघवे समरमूर्ध्नि कृतप्रतिज्ञे ।

मन्दोदरी जनकजाऽस्तनगावलम्बि-
न्यर्के चकोरकवधूरिव चक्रवाकी ॥ ३८ ॥

(उस समय मन्दोदरी और जानकीजी) हे रावण! आज यह सूर्यनारायण तेरे साथही अस्तको प्राप्त होवे अर्थात् सूर्यके छिपने पर तेरा नाश करदूँगा इस प्रकार संग्राममें रामचन्द्रजीके प्रतिज्ञा करने पर जानकीजी और मन्दोदरी सूर्य-नारायणके अस्ताचलके प्राप्त होनेके समय चकोरी और चक्रवाकीकी समान होगई ॥ अर्थात् जानकीजी चकोरीकी समान रात्रिका शुभागमन जान प्रसन्न हुई क्योंकि-रावणकी मृत्यु हो जायगी और मन्दोदरी चकवीकी समान रात्रिका आगमन जान विकलताको प्राप्त हुई क्योंकि-उसका पतिसे वियोग होगा ॥ ३८ ॥

रामः (रावणम्प्रति)-

एकस्मिन्निनिपातितेऽपि शिरसि क्रोधोपशान्तिः कुतः
किन्तु स्वानुनयाय मूर्धनिधनं दृष्टं न यत्रारिणा ।
त्वत्तो मूर्धबहुत्वतः फलमिदं सम्यङ् मया लभ्यते
छिन्नं छिन्नमवेक्ष्य राक्षसपते स्वं दुर्नयं ज्ञास्यसि ॥ ३९ ॥

(रामचन्द्रजी रावणके प्रति) हे रावण! वैरीका एक २ मस्तक काटनेसे क्रोधकी शान्ति कैसे होसकती है? किन्तु अपने शिरच्छेदनकी प्रार्थनाको करते हुए जब और कोई शिर नहीं रहा तब तुझ शत्रुने कुछ न देखा ॥ आज तेरे बहुतसे मस्तकोंका फल मैने प्राप्त किया है, सो हे राक्षसराज! आज तू अपने शिरोंको छिन्न २ देखकर अपने खोटे कर्मको जानैगा ॥ ३९ ॥

(अत्यन्तद्रुततरं श्रीरामबाणादिताडनव्यग्रो रावणः)-

धनुर्निस्त्रिंशादिप्रहरणगलच्छेदकुपितो
दशास्यः स्वान्मूर्ध्नो रघुपतिशरव्रातदलितान् ।
करैरेकैरेकैर्नभसि भृशमादाय युगपत्
क्षिपन्नान्यैरन्यैश्चपलयति दोर्विंशतिमपि ॥ ४० ॥

बहुत ही शीघ्र रामचन्द्रजीके बाणके ताडनसे घबडाकर रावण धनुषके तीव्र प्रहारसे छिन्न मस्तक होजानेके कारण क्रोधमें होता हुवा दशमुख रावण रामचन्द्रजीके बाणोंके समूहोंसे टुकडे २ हुए अपने मस्तकोंको देखकर शीघ्रही एकसाथ एक २ हाथसे आकाशमेंको उछलता हुआ बीसों भुजाओंको चलाता है ॥ ४० ॥

रामः(सावष्टम्भम्)-

कल्पान्ते यत्कृतान्तैरिव वरसमरप्राङ्गणे रामचन्द्रो
बाणैरुत्तीर्णशाणैर्नवभिरपि दशग्रीवमूर्ध्नो नवैव ।
चिच्छेदालोक्य भूयः स पुनरपि नवान्विस्मितः सन्मुहूर्तं
विश्रम्यागस्त्यदत्तं तदनु रिपुवधायाददे ब्राह्ममस्त्रम् ॥ ४१ ॥

(रामचन्द्रजी क्रोध होकर) प्रलयके समय यमराजकी समान सुन्दर समर भूमिमें रामचन्द्रजी शान धरे हुए नौ बाणों करके रावणके जिन नौ माथोंको काटते हुए फिर उन्हीं मस्तकोंको नये निकले देख आश्चर्यमें होकर क्षणमात्रको विश्राम लिया फिर शत्रुके नाश करनेके लिये अगस्त्यके दिये ब्रह्मास्त्रको उठाया ॥ ४१ ॥

पैतामहं रघुपतिः समरेऽतिकोपा-
द्बाणं मुमोच हृदये दशकन्धरस्य ।
भित्त्वा स तद्धृदयशोणितशोणगात्रः
प्राणान्विवेश धरणीतलमस्य नीत्वा ॥ ४२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने समरमें उस ब्रह्मास्त्रको लेकर बडे क्रोधसे रावणके हृदयमें प्रहार किया । यह अस्त्र भी रावणके हृदयको विदीर्ण कर रक्तसे गीले देहवाला होकर रावणके प्राणोंको लेताहुआ पृथ्वीतलमें घुसगया ॥ ४२ ॥

मन्दोदरी सकलसुन्दरसुंदरीभिः परिवृता गलदविर-
लनेत्रजलप्रवाहैः सीतापतेर्विरहानलेन सह लंकापतेः
प्रतापानलं निर्वापयन्ती हाहाकारं घोरफूत्कारैः
कुर्वन्ती झटिति त्रिकूटाचलादुत्तरय समरभूमौ महा-

निद्रां गतस्य निजप्राणनाथस्य लंकापतेश्चरणकमल-
योर्निपत्य ॥

मन्दोदरी—सम्पूर्ण सुन्दर स्त्रियोंसे घिरकर सघन नेत्र जलके प्रवाहोंसे जानकी पति रामचन्द्रजीकी वियोगाग्निके साथ लंकाधिपति रावणके प्रतापकी अग्निको शीतल करतीहुई भयानक शब्दोंसे हाय ! हाय ! ऐसा करती शीघ्रही त्रिकूटाचलके ऊपरसे उतरकर संग्रामभूमिमें आई और घोरनिद्राको प्राप्त हुए अपने प्राणपति लंकेश्वर रावणके चरणोंमें गिरकर ॥

भिन्नैरावतबन्धुसिन्धुरशिरःसंपातिभिर्मौक्तिकैः
शश्वद्विश्वजयप्रशस्तिरचनावर्णावलीशिल्पिने ।
नाकान्तःपुरिकाकपोलविलसत्काश्मीरपत्राङ्कुर-
श्रीविन्यासविनाशभीषणभुजस्तम्भाय तुभ्यं नमः ॥ ४३ ॥

विधेहुए ऐरावत हाथीके मस्तकोंसे गिरतेहुए मोतियों करके निरंतर विजयकी प्रशंसाकी अक्षरावलीके शिल्पी स्वर्गके अन्तःपुरकी स्त्रियोंके कपोलोंमें शोभा देती, केसरके पत्रोंके अङ्कुरोंकी शोभाके विन्यासका विनाश करनेके निमित्त भयानक भुज-दण्डवाले तुमको नमस्कार है ॥ ४३ ॥

हा प्राणनाथ लंकेश !

भूयिष्ठानि मुखानि चुम्बति भुजैर्भूयोभिरालिङ्गते
चारित्रव्रतदेवतापि भवता कान्तेन मन्दोदरी ।
हा लम्बोदरकुम्भमौक्तिकमणिस्तोमैर्समैकावली-
शिल्पे वागधमर्णिकस्य भवतो लंकेन्द्रनिद्रारसः ॥ ४४ ॥

हे प्राणनाथ लंकापते ! यह मन्दोदरी तुम्हारे बहुतसे मुखोंका चुम्बन करती है, और पतिव्रता मन्दोदरीको आपने बहुतसी भुजाओंसे आलिंगन किया था; हे स्वामिन् ! मेरे गलेका हार बनानेके लिये गणेशजीके गण्डस्थलके मोती लानेकी प्रतिज्ञा करके उसके चुकाने बिना ही आप कैसे सोगये ? ॥ ४४ ॥

एकेनैव समुद्धृतो हरगिरिर्द्वाभ्यां त्रिलोकी जिता
यस्याष्टादशभिर्भुजैरवसरः शस्त्रस्य नासादितः ।
सोप्येनं द्विभुजं मनुष्यमहह क्रव्यादवीरो रिपुं
प्राप्य व्यर्थभुजो रणे विनिहतो देवाय तस्मै नमः ॥ ८५॥

आश्चर्य है कि जिस रावणने अपनी एक बाहुसे तौ कैलास पर्वतको उठाया और दो भुजाओंसे तीनों लोकोंको जीतलिया तथा जिसकी १८ भुजाओंको तो शस्त्र पकडनेका समय ही नहीं मिला ऐसा राक्षसराज रावण वीर भी इन दो भुजावाले मनुष्य शत्रुको प्राप्त होकर भुजाओंके बलके व्यर्थ होनेसे नष्ट होगया । आहा! दुर्वट घटना करनेवाले उस प्रारब्धकोही नमस्कार है ॥ अर्थात् प्रारब्धकी बडी विलक्षण गति है ॥ ८५ ॥

जातिर्ब्रह्मकुलेऽग्रजो धनपतिर्यः कुम्भकर्णोऽनुजः
पुत्रः शक्रजयी स्वयं दशशिराः पूर्णा भुजा विंशतिः ।
दैत्याः कामचरा रथश्च विजयी पारेसमुद्रं गृहं
सर्वं निष्फलितं तथैव विधिना दैवे बले दुर्बले ॥ ८६ ॥

जिसकी ब्राह्मण जाति, कुबेर बडा भाई, कुम्भकर्ण छोटा भ्राता, पुत्र इन्द्रको जीतनेवाला, और अपने आप दशमुख और पूर्ण बीस भुजावाला, इच्छाचारी दैत्य जिसके सेवक, जिसका रथ विजय प्राप्त करनेवाला और समुद्रके पार जिसका घर ऐसे रावणका भी सकल ऐश्वर्य प्रारब्धके दुर्बल होनेसे विधाताने निष्फल करदिया॥८६॥

कालेन विश्वविजयी दशकन्धरोऽभू-
द्गर्गाचलोद्धरणचञ्चलकुण्डलाग्रः ।
संस्कारमग्नि दहनाय स एष काल-
श्चाज्ञां विना रघुपतेः प्लवगैर्निरुद्धः ॥ ८७ ॥

कैलासके उठानेमें चलायमान कुण्डलोंवाला यह रावण एक समय विश्वकी विजय करनेवाला हुवा था, आज वह समय है कि—अग्निमें दाह करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा न पानेतक वानरोंने उसको रोकरक्खा है ॥ ८७ ॥

दुर्गं त्रिकूटः परिखा समुद्रो रक्षांसि
योधा धनदश्च वित्तम् । संजीविनी यस्य
मुखाग्रविद्या स रावणः कालवशाद्विनष्टः ॥ ४८ ॥

जिसका किला त्रिकूटाचल पर्वत, खाई समुद्र, राक्षस योधा, धन साक्षात् कुबेर, और जिसके मुखमें संजीविनी विद्या थी, ऐसा रावण भी कालके वशमें आकर आज नाशको प्राप्त होगया ॥ ४८ ॥

इह खलु विषमः पुराकृतानां
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः ।
शिवशिरसि शिरांसि यानि रेजुः
शिव शिव तानि लुठन्ति गृध्रपादैः ॥ ४९ ॥

यह बात निश्चय ही है कि-इस संसारमें पहिले कियेहुए कर्मोका विषम फल मनुष्योंको अवश्य ही भोगना पडता है । रावणके शिर शिवजी महाराजके मस्तक पर सुशोभित हुए थे-वही शिर अत्यन्त शोककी वार्ता है कि-आज गृध्रोंके पैरोंमें लोटते हैं ॥ ४९ ॥

ततो लक्ष्मणवायुपुत्रौ विमाने जानकीमारोप्य
सत्वरमानीतवन्तौ ॥

तदनन्तर-लक्ष्मणजी और हनूमान्जी जानकीजीको विमानमें बैठाकर शीघ्र ही लेआये ॥

(जानकी ससंभ्रममुत्थाय लज्जां नाटयति) रामः-

जनकतनयां हत्वा रागी हते दशकन्धरे ।
तदनु विरहज्वालाजालाकुलीकृतविग्रहः ।
रघुपरिवृढो नाधो नोर्ध्वं न तिर्यगवेक्षते
मुकुलितदृगम्भोजद्वन्द्वः समाहितवन्स्थितः ॥ ५० ॥

(सीताजी घबडाहटके साथ उठकर) लज्जाका नाटन करती हैं रामचन्द्र जानकीको हरण करनेवाले रावणका वध कर, प्रेमी रामचन्द्र तदनन्तर वियोगाग्निकी ज्वालाओंके समूहसे व्याकुल शरीरवाले भी थे, तब भी नीचे ऊपर व इधर उधरको न देख दोनों नेत्रकमलोंको मूँदकर ध्यानमें बैठेहुएसे स्थित होगये ॥ ९० ॥

(साश्रु स्ववंश्यपरिजनलज्जया च) हनूमान्—मातर्जानकि !

चापालिङ्गनभंगुराङ्गमदनन्यस्तैकहस्ताम्बुजं
मध्ये मुष्टिनिविष्टपञ्चकशरं बिभ्राणमन्यत्करे ।
वीरश्रीनखरक्षतैरिव नवैर्बाणव्रणैरङ्कितं
वीरं राममवस्थितं प्रणम तं प्रोन्मथ्य लंकाभटम् ॥ ५१ ॥

आँसू भरकर अपने कुटुम्बीजनोंकी लज्जासे हनूमान्जी—हे माता जानकीजी ! एक हाथमें बीचमेंसे धनुषके धारण करनेसे तिरछे शरीर होनेके कारण कामदेवकी समान और दूसरे हाथकी मुट्ठीमें पंचक शर (पाँचबाण) धारणकरे वीरोंकी विजयलक्ष्मीके नक्षत्रोंकी समान नये २ बाणोंके व्रणों करके अंकित शरीरवाले यह रामचन्द्रजी लंकाके योधा रावणका विनाश करके खडे हैं, इनको तुम प्रणाम करो ॥ ९१ ॥

जानकी—स्वगतम्

तापच्छेदसुधाकरस्तनुमतां क्रोधानलाम्भोधरः
सारासारविवेकशोकभवनं हर्षस्य बीजाश्रयः ।
कालव्यालविषस्य गारुडमणिर्धैर्यद्रुमो रामभूः
कैवल्यप्रतिभूर्घटेत सुकृतैरामस्य सत्संगमः ॥ ५२ ॥

जानकीजी (मनमें ही) देह धारण करनेवालोंके तापका नाश करनेके निमित्त चन्द्रमारूप, क्रोधाग्निके शान्त करनेके लिये मेघरूप, सार और असारका ज्ञान तथा शोकके स्थान, आनन्दके बीजका आश्रय, कालरूप साँपके विषको दूर करनेके निमित्त गारुडमणि, धैर्यके वृक्ष, और मोक्षकी अमरभूमिके सदृश, कल्याणकारी अर्थात् मोक्षके दाता श्रीरामचन्द्ररूप पृथ्वीका किसी पुण्यात्माजनोंके साथ ही संगम होता है ॥ ९२ ॥

इति रघुपतेश्चरणकमलयोः शिरोमधुकरेण मकरन्दमनुभवितुमिच्छति ॥

ऐसा कहकर निजमस्तकरूप भ्रमरके द्वारा रामचन्द्रजीके चरणकमलोंके मकरन्दका अनुभव करनेकी इच्छा करती हैं ॥

रामः उपसृत्य-साशंकम्-

हे महान्तो जनाः यद्यपि प्रिया पतिव्रता तथापि चिरं परमन्दिरस्था दिव्यमन्तरेण कथं मां स्प्रष्टुमर्हति । इत्याकर्ण्य रामवाक्यादाकाशादवतरन्ति स्म ब्रह्मादयः । ततो जानकी दिव्योपकरणं नाटयति ॥

रामचन्द्रजी- हट कर (शंकासे) हे महानुभाव पुरुषों ! यद्यपि हमारी प्रिया सीता पतिव्रता है तथापि विना परीक्षाके मुझे कैसे छूसकतीहै ? क्योंकि-बहुत काल-तक दूसरे पुरुषके घरमें रही है यह सुन रामचन्द्रके कथनसे आकाशसे ब्रह्मा आदिक सब देवता उतरे-फिर जानकीजी शपथका नाटय करती हैं ॥

तत्र रामो रतिं लेभे न प्रियाविरहार्दितः ।
यत्सत्यं मनसि स्वच्छे रम्याणां रमणीयता ॥ ५३ ॥

रामचन्द्रजी स्त्रीके विरहमें व्याकुल भी थे तो भी इस काममें सन्तुष्ट न हुए यह ठीक हीह कि-मनके स्वच्छ होजाने पर सुन्दरोंमें सुन्दरता दीखती है ॥ ५३ ॥

जानकी-

(सत्वरं ज्वलत्पावकमुपगम्य भो भगवन् अग्ने !)
मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि ।
तदिह दह ममाङ्गं पावकं पावक त्वं
सुकृतिफलभाजां त्वं हि कर्मैकसाक्षी ॥ ५४ ॥

जानकीजी शीघ्रता से—(प्रदीप्त अग्निके समीप जाकर हे भगवन् अग्ने !)—मनमें, वचनमें, देहमें, जागतेमें वा शयन करतेमें यदि मेरा पतिभाव श्रीमहाराज रामचन्द्र-जीसे और किसी पुरुषमें हुआ हो तो हे अग्निदेव ! आप शरीरको इसी स्थानमें भस्मीभूत करदो क्योंकि—भली भांति सुन्दर फल भोगनेवालोंके कर्मके तुम ही एक साक्षी हो ॥ ९४ ॥

इति ज्वलत्तीव्रदहनान्तराले देहं चिक्षेप ।

यह कहकर जलतीहुई तीव्र अग्निमें अपने शरीरको गिरादिया ।

अथ वानरभटाः—

सत्यं कालहुताशनस्य वहतो जिह्वातिलीलासर-
स्यङ्गारे सरसीरुहं कमलभूरालोक्य सीताननम् ।
शुद्धेयं जनकात्मजेत्यभिदधौ तावन्नु कीशेश्वरैः
फूत्फूत्काररवैरपूरि रभसा तावन्नभोमण्डलम् ॥ ५५ ॥

(ऐसा होने पर वानर योधा) जबतक ब्रह्माजीने यथार्थ निर्णयको धारण कर-नेवाले कालाग्निकी ज्वालाओंके क्रीडासरोवरके अंगारोंमें सीताजीके आननको कमलके तुल्य देखकर यह जनकनन्दिनी जानकी पवित्र है ऐसा कहा तबतक वानरराज सुग्री वादिकोंके वेगके फूँ फूँ शब्दों करके आकाशमण्डल व्याप्त होगया ॥ ९९ ॥

श्रीरामः—सानन्दम्—

वह्निं गताया जनकात्मजायाः
प्रोत्फुल्लराजीवमुखं विलोक्य ।
उवाच रामः किमहो सुरादी
नङ्गारमध्ये जलजं विभाति ॥ ५६ ॥

(रामचन्द्र आनन्दसे) अग्निके मध्यमें स्थित जानकीके खिलेहुए कमलकी समान मुखको देखकर रामचन्द्रजीने देवतादिकोंसे पूछा कि—ओहो ! क्या यह अंगारोंके बीचमें कमल शोभा पारहा है ? ॥ ९६ ॥

(जानकी सानन्दम्)

श्रीरामे दयिता विनोदविपुलप्रीतिप्रभूतीभव-
त्प्रस्वेदाम्बुकणावृतस्य कमले दिव्योत्थिता जानकी ।
आगम्याशु ससंभ्रमं बहुतरां भक्तिं दधाना पुनस्तत्पादौ
मणिकंकणोज्वलकरा नैव स्पृशत्यद्भुतम् ॥ ५७ ॥

(जानकी आनन्दसे) श्रीरामचन्द्रजीके मुखकमल जानकीके विनोदसे अत्यन्त प्रीतिके पात्र, पसीनेके जलके किनकोंसे आच्छादित होने पर शपथसे निकली हुई बड़ी भक्तिको धारण करती हुई भी जानकीजीने फिर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको नहीं छुआ क्योंकि उनके हाथ मणि और कंकणोंसे प्रकाशित होरहेथे यह विचित्र आश्चर्य हुआ ॥५७॥

अहल्यावच्चरणस्पर्शमात्रेण कंकणमणयोपि योषितो-
माभूवन्निति भावः ।

(अहिल्योंकी भाँति रामचन्द्रजीके चरणोंके स्पर्शसे यह कंकणकी मणियें कहीं स्त्री न होजायँ ?)

सुग्रीवो रामं विज्ञापयति देव !—

इयमियं त्वयि दानवनंदिनी त्रिदशनाथजितः प्रसवस्थली ।
किमपरं दशकन्धरगेहिनी त्वयि करोति करद्वययोजनम् ॥ ५८ ॥

(सुग्रीव रामचन्द्रजीसे कहते हैं कि हे देव!) इन्द्रविजयी मेघनादकी माता दानवनन्दिनी रावणकी स्त्री यह मन्दोदरी हाथ जोड़कर आपके सामने उपस्थित है ॥५८॥

रामो नम्राननो भूत्वा—

(किमाज्ञापयति महाभागा मन्दोदरी)

रामचन्द्रजी (नीचेको मुख करके) महाभागा मन्दोदरी की क्या आज्ञा है ?

---

(१) दोहा—सीतल तियकर छुवति कर, नहिं परसति पद पानि ।
मन दिहँसे रघुवंसमनि, प्रीति अलौकिक जानि ॥ १ ॥

मन्दोदरी–

धन्या राम त्वया माता धन्यो राम त्वया पिता ।
धन्यो राम त्वया वंशः परदारान्न पश्यसि ॥ ५९ ॥

(मन्दोदरी) हे रामचन्द्रजी ! आपकी माता भी आपके होनेसे धन्य है ! हे रामजी ! आपके पिता भी आपसे धन्य है और हे रामजी ! आपसे रघुकुल भी धन्य है क्योंकि–आप दूसरे पुरुषोंकी स्त्रियोंको नहीं देखते हो ॥ ५९ ॥

साधु राम साधु अतः परं मम का गतिः ।

हे रामचन्द्रजी महाराज ! आपको धन्य है धन्य है ? इसके अनन्तर मेरी क्या गति होगी? ॥

रामः–

महाभागे न खलु राक्षसीनां सहगमने धर्मः ।
अतस्त्वया विभीषणालयमास्थाय लंकाचले राज्यं
चिराय भुज्यतामिति । विभीषणं लंकाधिपत्याभिषेकं
नाटयति । ततो रामः आत्मानं पुष्पकविमाने जानकीं
चारोप्य समरभूमिं दर्शयति प्रिये जानकि ! पश्य ।

रामचन्द्रजी–हे महाभागे ! यह ठीक समझो कि राक्षसियोंके सहगमनमें धर्म नहीं है इसकारण तुम विभीषणके घरमें रहकर लंकामें चिरकाल तक राज्य भोगो । यह कहकर विभीषणको लँकाका राज्य देनेका नाट्य करते हैं । पुनः श्रीरामचन्द्रजी पुष्पक विमानमें बैठ और जानकीको भी उसमें बैठाकर समरभूमिको दिखाते हैं । प्रिये जानकी देखो ।

अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥ ६० ॥

यहाँ हम सब नागपाशमें बँधे थे। यहाँ तुमारे देवर लक्ष्मणके हृदयमें शक्तिसे घोर प्रहार होने पर हनूमान्जी द्रोणाचल पर्वतको लाये थे। यहाँ इन्द्रको पराजित करनेवाला मेघनाद लक्ष्मणजीके दिव्य बाणोंसे परलोकको गया और हे मृगनयनी! यहांपर किसीने राक्षसराज रावणके कण्ठोंको काटा था अर्थात्—यहाँ मैंने रावणका वध किया ६०॥

हन्तीति ज्वलितः कृशः कपिरपि व्रीडावनम्राननो
लीलालंघितवाहिनीपतिरिति श्लाघाचलत्कन्धरः।
रामस्यार्यमितीर्ष्यया कलुषितः पश्यन् प्रिये त्वत्कृते
विक्रामत्यनिलात्मजे दशमुखः कां कामवस्थां गतः॥६१॥

जब रावणने यह सुना कि—एक दुबला वानर प्रज्वलित होकर सबका नाश कररहा है तब तो नीचेको मुख करलिया और वानरने खेलमें ही समुद्रको लाँघलिया यह सुन रावणने ईर्षासे मलिन होकर देखा, हे प्रिये! तेरे निमित्त हनूमान्के पराक्रम करने पर रावणकी न जाने क्या क्या दशा हुई॥ ६१॥

जानकी (सविस्मयम्)—

भो प्राणनाथ तथाविधात् वनान्तात् कथमिहागतः।

जानकी (आश्चर्यके सहित) हे प्राणपते! उस दण्डकारण्य वनसे आप यहाँ कैसे आगये?॥

रामः (सहर्षं) प्रियेजानकि—

निवासः कान्तारे प्रियजनवियोगाधिरधिको
धनुर्मात्रत्राणं रिपुरपि धुरीणः पलभुजाम्।
अकूपारंपारे वसति च स कात्र प्रतिकृतिर्न-
मित्रं सुग्रीवो यदि तदियती राघवकथा॥ ६२॥

रामचन्द्र—(हर्षके साथ) हेप्रिये जानकि! वनमें रहना, प्रियजनके वियोगसे मनमें अत्यन्त पीड़ा, केवल एक धनुष ही रक्षा करनेवाला और मांसभक्षी राक्षसोंमें अग्रणी रावणसा शत्रु तथा उसका भी समुद्रके पार स्थान, फिर यहाँ पर क्या उपाय

होसक्ता था, परंतु जो सुग्रीव हमारे मित्र न होते तो मुझ रामचन्द्रकी इतनी ही कथा रहजाती कि—राजा दशरथके पुत्र रामचन्द्रको वनवास हुआ था और उनकी प्यारी स्त्री जानकीको रावण चुरा लेगया ॥ ६२ ॥

(अत्रांतरे चन्द्रोदयो बभूव) रामः—देवि !

इसही अवसरमें चन्द्रमा निकल आया रामचन्द्रजी बोले कि—हे देवि ! ।

पश्योदेति वियोगिनो दिनमणिः शृंगारदिक्षामणिः
प्रौढानङ्गभुजङ्गमस्तकमणिश्चण्डीशचूडामणिः ।
तारामौक्तिकहारनायकमणिः कन्दर्पसीमन्तिनी-
काञ्चीमध्यमणिश्चकोरतरुणीचिन्तामणिश्चन्द्रमाः ॥६३॥

विरही मनुष्योंको सूर्यसमान तापदाता, शृंगारकी दीक्षाका मणिबढ़ते हुए काम देवरूप साँपके माथेका मणि, शिवापति शिवजीका चूड़ामणि, तारारूप मोतियोंके हारकी नायकमणि, कामिनी रमणियोंके कांचीके मध्यका मणि और चकोरकी स्त्रीको चिन्तामणिरूप यह चन्द्रमा उदित होता है ॥ ६३ ॥

प्राचीनस्मृतविरहव्यथातिभीतः
काकुत्स्थः कृतकुतुकाक्षिमीललीलः ।
सम्पूर्णे शशिनि चिराय लग्नदृष्टेः
प्रेयस्याः स्थगयति लोचने कराभ्याम् ॥ ६४ ॥

प्राचीन वियोगको स्मरण कर पीड़ासे डरपोक हुए रामचन्द्रजी क्रीड़ा हीसे नेत्रोंको मींचनेलगे और पूर्ण चन्द्रमामें चिरकालतक दृष्टिको लगानेवाली प्रिया सीताजीके नेत्रोंको हाथोंसे ढकलिया अर्थात् जब सुवर्णका मृग देखा तो उसको लानेके निमित्त भेजने पर इतना वियोग हुआ अब कहीं चन्द्रमण्डलके मृगको मांगा तो न जाने कबतकका वियोग हो इस भयसे नेत्र मूंदलिये ॥ ६४ ॥

(अत्र रात्रौ सुखसुप्ताः सर्वे यथास्थानं प्रातरागत्य)

यहाँ रातमें सुखसे सोये हुए सब प्रातःकालके समय यथास्थान पर आकर ।

विभीषणः रामपादौ प्रणम्य देव-

किंकुर्वाणपयोधिसेवितगृहोद्याना मुदे सर्वतो
लंकेयं रघुवंशविक्रमकथाबीजप्ररोहस्थली ।
देवेनात्र दशाननस्य दशभिश्छिन्नैः शिरोभिः क्रमा-
देकैकेन शतं शतं शतमखस्यामोदिता दृष्टयः ॥ ६५ ॥

विभीषण श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको प्रणाम करके हे भगवन् ! आज्ञाकारी समुद्रसे जिसमें घर और बगीचे सेवितहैं और आपके पराक्रमकी कथाके बीजोंकी उत्पत्तिस्थान यह लंका नगरी क्या आनन्द देनेवाली नहीं है अर्थात्–है ही और आपने यहां दशानन रावणके कटेहुए दश शिरोंसे क्रमसे एक २ शिर करके इन्द्रकी सौ सौ दृष्टियोंको तृप्त करादिया ॥ ६५ ॥

रामस्ततस्तत्कालयोग्योपकरणैश्छत्रचामरादिभिर्वि-
भीषणं संभाव्य पुनरयोध्यां राज्यभोगाय प्रस्थितः ॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने समयके योग्य छत्र चामर आदि करके विभीषणका सत्कार किया और फिर राज्य भोगनेके लिये अयोध्याको चल दिये ॥

तत्र सुग्रीवः देव–

वाजिव्रातखुरप्रहारदलितक्षोणीरजोभिर्युतं
सान्द्रैर्जीर्णकपोतकण्ठरुचिभिर्व्योमेदमास्तीर्यते ।
किञ्चानेककरीन्द्रगण्डविलसद्दानाम्बुधाराघनं
संग्रामं प्रथयन्त्यमी परिमलप्रोद्गारिमन्दानिलाः ॥ ६६ ॥

(तब सुग्रीव) हे भगवन् ! सघन और जीर्ण कबूतरके कण्ठकी समान कान्तिवाले घोडोंके समूहोंके खुरोंके प्रहारोंसे खुदीहुई पृथ्वीकी धूलियों करके यह आकाश ढकाजाता है और अनेकों हाथियोंके गण्डस्थलोंसे निकलते हुए मदरूप जलकी धाराओं करके मेघकी समान यह सुगन्धके उडानेवाले मन्द २ पवन संग्रामको प्रसिद्ध करते है ॥ ६६ ॥

ततः समुद्रे सेतुमासाद्य जानकी भो प्राणनाथार्यपुत्र !--
दृष्टोऽयं सरितां पतिः प्रियतम क्वास्ते स सेतुः परं
क्वेति क्वेति मुहुर्मुहुः सकुतुकं पृष्टे परं विस्मिते ।
अत्रासीदयमत्र नात्र किमिति व्यग्रे निजप्रेयसि
व्यावृत्तास्यसुधानिधिः समभवन्मन्दस्मिता जानकी ॥ ६७ ॥

(तदनन्तर समुद्रमें सेतुके समीप आकर) जानकीजी—हे प्राणनाथ ! आर्यपुत्र यह समुद्र तौ मैंने देखा परन्तु हे प्रियतम ! वह सेतु कहाँ है कहाँ है कहाँ है इस प्रकार बार-बार कौतुकसे श्रीजानकीजीके पूछनेपर रामचन्द्रजीने कहा कि—यहाँ था फिर तहाँ न देखकर ये क्या हुवा इसप्रकार व्यग्रचित्त हुई प्यारी जानकीका चन्द्र-समान मुख हाथसे ढकलिया और जानकीजी मुसकुराई ॥ ६७ ॥

मुखदर्शनक्षुब्धजलधिकल्लोलैराच्छादितस्य
सेतोः प्रकटनाय मुखव्यावृत्तिरिति भावः ।

(चन्द्रसमान मुखके दर्शनसे क्षोभको प्राप्त हुए समुद्रकी लहरोंसे ढके हुए पुल को प्रकट करनेके निमित्त मुखको ढँका यह अभिप्राय है ॥

स्नात्वा पीत्वा दरीभिर्जलधिमथ चिराद्दृष्टमैनाकबन्धु-
प्रीतिप्रौढाशुपूरद्विगुणमहिमभिर्निर्झराः पूरयन्तः ।
ये विन्यस्ताः पुरस्तान्निशिनिशि निवहैरौषधीनां ज्वलद्भि-
स्ते दृश्यन्ते तदम्भःस्थितकपिशिबिरस्मारिणः सेतुशैलाः ६८ ॥

हे सीते ! जिस स्थानमें स्नान और जलपान करके गुफाओंमें बैठे जहाँसे कि—मैनाक पर्वतके बन्धुओंको देखनेसे उनकी शोभा वृद्धि को प्राप्त होरही थी और पानीके झरनोंसे स्रोतोंको व्याप्त किया और जहां हरेक रात्रिमें जलतीहुई औषधियोंके दीपक जलते दिखाई देते हैं वह यह सामने ही सागरके जलमें वानरोंकी छावनियोंको याद करनेवाले सेतुके पर्वत दिखाई देरहे हैं ॥ ६८ ॥

यदा दूरापातित्रिदशयुवतीनेत्रसुलभा-
मपां हर्ता हारावलिवलयलक्ष्मीं वितनुते ।
तदायं माणिक्यस्फटिककनकग्रावशिखरै-
रशून्यात्मा सेतुर्विभवति महानाटक इव ॥ ६९ ॥

जिस समय समुद्र दूरसे आनेवाली देवयोषिताओंके नेत्रोंको सुलभ हारावलीरूप कंकणकी लक्ष्मीका विस्तार करता है उस समय माणिक्य स्फटिक स्वर्णके पाषाणोंके शिखरों करकै अशून्यात्मा यह सेतु महानाटककी समान सुशोभित होताहै ॥ ६९ ॥

जगाम रामः सह सीतया स्वां पुरीमयोध्यां सह वानरेन्द्रैः ।
प्रत्यागतैस्तैर्भरतादिभिश्च राज्येऽभिषिक्तो मुनिभिश्चिराय ॥ ७० ॥

सीताजीके साथ और वीर वानरोंके साथ श्रीरामचन्द्रजी अपनी अयोध्यापुरीको गये । तदनन्तर उनको लेनेके निमित्त आयेहुए भरत आदि बान्धव और मुनियोंने मिलकर चिरकालको अयोध्यामें राज्याभिषेक करादिया ॥ ७० ॥

हित्वैकां हरशेखरप्रणयिनीं पीयूषभानोः कलां
दिक्पालावलिमौलिभूषणमणीन् गृह्णीत सर्वानपि ।
तैः कांची रचिता चिराय बहुशः श्रोणीतटे जानकी
गायन्ती निजमंजुसिञ्जितगिरा त्वद्विक्रमाडम्बरम् ॥ ७१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने एक शिवजी महाराजके मस्तकमें स्थित चन्द्रमाकी कलाको छोड-कर दिक्पालोंके माथोंके सम्पूर्ण मणियोंको लेकर उनकी तगडी बना जानकीजीके कटितटमें पहिनाई उस समय चिरकाल पर्यन्त मनोहर वाणीसे वह जानकी रामचन्द्रजीकी भुजाओंके पराक्रमको गाती रही ॥ ७१ ॥

अङ्गदः--

अकस्मात् वानरभटोऽयः समुत्पत्य पितृहन्तारमव-
लोक्य दोस्तम्भास्फालकेलिमभिनीय क्रोधं नाटयति ॥

(अंगदजी) अकस्मात् ही वानर योधाओंमेंसे उठकर पिताका वध करनेवाले रामचंद्रको देख भुजदण्डोंको ताडन करके क्रोधका नाट्य करते हैं ॥

रामचन्द्र त्वयादिष्टं यद्यत्तन्मया कृतम् ।
यतस्त्रैलोक्यनाथोसि न च त्याज्यं गुरोर्वचः ॥ ७२ ॥

हे रामचन्द्रजी ! आपने जो जो मुझसे कहा सो सो मैंने सभी कुछ किया क्योंकि आप त्रिलोकीके स्वामी हो । परन्तु मैं अपने पिताके वैरको कभी नहीं भुलूँगा ॥७२॥

पश्य श्रीरामचन्द्र त्वदभिमतमहो लक्ष्मणेनापि पूर्णे
तूर्णं रङ्गवतारेऽवतरतु स भवानाहतो येन तातः ।
सुग्रीवेणाञ्जनेयप्रमुखभटचमूचक्रवालेन सार्द्धं
त्वामेकेनाङ्गदोहं पितृनिधनमनुस्मृत्य मथ्नामि दोष्णा ॥७३॥

हे रामचन्द्रजी ! तुमारे प्रियकार्यकर्ता लक्ष्मणजी करके पूर्ण इससंग्राम भूमिमें जिसने मेरे पिताको मारा है वह और हनूमान् आदि वानरोंकी सेनाके समूहके साथ शीघ्र आवै मैं अकेला अंगद ही अपने पिताके मृत्युके वैरको स्मरणकर अपनी बाहुओंसे तुम्हें मथडालूँगा ॥ ७३ ॥

श्रुत्वाङ्गदस्य महतीं समरप्रतिज्ञां
ते चुक्षुभुः कपिचमूपतयः सरामाः ।
सौमित्रिरप्यनपराधिनमाहतं तं
मत्वा कृतांजलिपुटः पुरतो बभूव ॥ ७४ ॥

अंगदकी ऐसी प्रबल समर प्रतिज्ञाको सुन रामचन्द्रजी और वह समस्त वानर सेनाके स्वामी क्षोभको प्राप्त हुए परन्तु लक्ष्मणजीने उस निरपराध बालीको मारागया जान हाथ जोडकर अंगदके सन्मुख आये ॥ ७४ ॥

तदा च-

आकाशवाण्यभवदेवमहो स वाली
दासो हनिष्यति पुनर्मथुरावतारे ।

श्रुत्वा विलोक्य रघुनन्दनवानराणां
कारुण्यमञ्जलिपुटं स रणान्निवृत्तः ॥ ७५ ॥

उस समय–आकाश वाणी हुई कि–हे अंगद जब मथुरापुरीमें कृष्ण अवतार होगा तब वाली ही व्याधका रूप धारण करके इन रामचन्द्रजीका वध करैगा, यह सुनकर रामचन्द्रजीको और वानरोंके दीनवृत्तिसे स्थित तथा अंजलि बाँधे देखकर अंगदने संग्राम करनेका मानस त्यागदिया ॥ ७५ ॥

अङ्गदः–

पितृवधप्रतीकारो भविष्यतीति सानन्दं कोपमपहाय शान्तिमेत्य रामं स्तौति ॥

अंगद–कृष्णावतारमें पिताजीका बदला होगा ऐसा सुन (हर्षसे) क्रोधको त्याग–शान्तिको प्राप्त होकर श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुति करते हैं ॥

देव–

अकर्णमकरोच्छेषं विधिर्ब्रह्माण्डभङ्गधीः ।
गुणानाकर्ण्य रामस्य शिरः कम्पभयादिव ॥ ७६ ॥

हे स्वामिन ! महाराज रामचन्द्रजीके गुणोंको सुनकर शेषजी कहीं शिर न हिलाने लगें जिससे कि ब्रह्माण्ड ही उलट पुलट होजाय इस भयसे ब्रह्माजीने उनके कान नहीं बनाये ॥ ७६ ॥

हनूमान्–

कूर्मः पादोऽत्र यष्टिर्भुजगपतिरसौ भाजनं भूतधात्री
तैलापूराः समुद्राः कनकगिरिरयं वृत्तवर्त्तिप्ररोहः ।
अर्चिश्चण्डांशुरोचिर्गगनमलिनिमा कज्जलं दह्यमान
शत्रुश्रेणीपतङ्गा ज्वलति रघुपते त्वत्प्रतापप्रदीपः ॥ ७७ ॥

हनुमान् हे महाराज ! कच्छपराज तो जिसकी पाद (पलंगकोतकी नीचेकी भाटी) है, यह शेषजी ही जिसका दण्ड है, पृथ्वी जिसका पात्र है, समुद्र ही जिसमें तेल

है, यह हिमालय पर्वत जिसमें गोल बत्ती है, प्रदीप्त सूर्यनारायणकी किरण जिसकी किरणें हैं आकाशकी श्यामलता जिसका कज्जल है और भस्म होते हुए शत्रुओंकी पंक्ति जिसमें पतङ्गे हैं ऐसा आपके प्रतापका दीपक प्रज्वलित होरहा है ॥ ७७ ॥

कैलासो निलयस्तुषारशिखरी विंदिर्गिरीशः सखा
स्वर्गङ्गा गृहदीर्घिका हिमरुचिश्चन्द्रोपलो दर्पणः ।
क्षीराब्धिर्नवपूतकं किमपरं शेषस्तु शेषत्विषो
यस्याः स्यादिह राघवाक्षितिपते कीर्त्तेस्तटाकस्तव ॥ ७८ ॥

हे पृथ्वीपते ! श्रीरामचंद्रजी ! कैलास जिसका स्थान है, हिमालय जिसके उपवेशका स्थान है । शंकर जिसके मित्र हैं और आकाशगंगा जिसकी घरकी बावडी है स्वच्छ कान्तिवाला चंद्रकांतमणि जिसका दर्पण है, क्षीरसमुद्र जिसकी नई बावडी है शेषजीकी किरणें जिसकी अंगकी शोभा है ऐसा यह आपकी कीर्तिका विस्तार है ॥ ७८ ॥

क्रांत्वा भूवलयं दशास्यदमन त्वत्कीर्तिहंसी गता
सापि ब्रह्ममरालसङ्गमवशात्तत्रैव गर्भिण्यभूत् ।
यात्वा व्योमतरङ्गिणीपारिसरे कुन्दावदातं तया
मुक्तं भाति विशांकुरं ततमिदं शीतद्युतेर्मण्डलम् ॥ ७९ ॥

हे रावणके नष्ट करनेवाले स्वामिन् ! आपकी कीर्तिरूप हंसी पृथ्वीमात्रमें घूमकर ब्रह्मलोकको चलीगई, तहाँ जाकर श्रीब्रह्माजीके हंसके समागमसे गर्भिणी होगई और उसने गंगाकी लहरोंके समीप कुंदकी समान निर्मल, संसारको आनन्दका दाता चंद्रका मण्डल उत्पन्न किया सो यह शोभित होता है ॥ ७९ ॥

राम राम महावीर के वयं गुणवर्णने ।
यत्कीर्तिकामिनिभाले कस्तूरी तिलकंनभः ॥ ८० ॥

हे अतुल पराक्रमी श्रीरामचंद्रजी ! हम आपके गुणोंका क्या वर्णन करसकते है ? जिन आपकी कीर्तिरूप स्त्रीके मस्तकमें कस्तूरीका तिलकरूप आकाश सुशोभित है ॥ ८० ॥

लक्ष्मीस्तिष्ठति ते गेहे वाचि भाति सरस्वती ।
कीर्तिः किं कुपिता राम येन देशान्तरं गता ॥ ८१ ॥

हे रामचन्द्रजी ! लक्ष्मी तौ आपके घरमें निवास करती है, और आपकी वाणी-में प्रत्यक्ष सरस्वती शोभा देती है. और नहीं मालूम कि–कीर्ति क्यों कुपित होगई जो कि–परदेशोंमें चलीगई अर्थात् आपकी कीर्ति दिगन्तमें प्रख्यात होरही है ॥८१॥

राम त्वद्भुजदण्डडिण्डिमडमत्कारप्रतापानल-
ज्वालाजर्जरकीर्तिपारदघटी विस्फोटिता विन्दवः ।
भोगीन्द्राः कति तारकाः कति कति क्षीराब्धयः कत्यपि
प्रालेयाचलपाञ्चजन्यकरकाः कर्पूरकुन्देन्दवः ॥ ८२ ॥

हे श्रीराम ! आपके बाहुदण्डोंके डिमडिम डमत्कार शब्दके प्रतापाग्निकी ज्वाला ओंसे जर्जर हुई कीर्तिरूप पारेके ढेरकी टूटीहुई बूंदोंसे कोई तो श्वेत सूर्य हुए 'कितनी ही बूंदे तारे, और कितनी विन्दुओंके समुद्र होगए और कोई हिमालय कोई पाञ्च जन्य शंख तथा कितनी ही शेषजी, कपूर, कुन्द, तथा चन्द्रमा होगए ॥ ८२ ॥

अत्युक्तो यदि न प्रकुप्यसि मृषा वादं न चेन्मन्यसे
तद्ब्रूमोऽद्भुतकीर्तनेन रसना केषां न कण्डूयते ।
राम त्वत्तरुणप्रतापदहनज्वालावलीशोषिताः
सर्वे वारिधयस्ततो रिपुवधूनेत्राम्बुभिः पूरिताः ॥ ८३ ॥

और जो आप अत्युक्तिसे क्रोध न करे तथा मिथ्या विवाद भी न समझे तो मैं कहता हूं कि आपके यशका विस्तार करनेमें किसकी जीभ नहीं खुजाती है । हे रामजी ! तरुण प्रतापरूप अग्निकी ज्वालाओंकी पंक्तियों करके सोखेहुए समस्त सागर पुनः आपके वैरियोंकी स्त्रियोंके अश्रुप्रवाहोंसे व्याप्त होगये ॥ ८३ ॥

खद्योतद्युतिमातनोति सविता जीर्णोर्णनाभालय-
च्छायामाश्रयते शशी मशकतामायान्ति तारादयः ।
इत्थं वर्णयतो नभस्तव यशो यातं स्मृतेर्गोचरं
यत्रास्मिन्भ्रमरायते रघुपते वाचस्ततो मुद्रिताः ॥ ८४ ॥

सूर्य तौ पटवीजनेकी समान कान्तिको प्रकट करता है और चन्द्रमा मकडीके प्राचीन स्थानकी कान्ति आश्रय करता है और तारागण मच्छरकेसे रूपको प्राप्त होते हैं आकाश आपके स्वच्छ यशका वर्णन करते हैं मैं भ्रमरसा होगया अर्थात् इस दशा में हमारी वाणी आपके अपार यशको कथन करनेमें समर्थ नहीं है ॥ ८४ ॥

कृत्वा मेरुमुलूखलं रघुपते वृन्देन दिग्योषितां
स्वर्गङ्गामुसलेन शालय इव त्वत्कीर्त्तयः कण्डिताः ।
तासां राशिरसौ तुषारशिखरी तारागणास्तत्कणाः
प्रोद्यत्पूर्णसुधांशुविम्बमसृणज्योत्स्नाश्च तत्पांसवः ॥ ८५ ॥

हे भगवन् ! दिशारूप स्त्रियोंके समुदायने सुमेरु पर्वतको मूसल बनाकर आकाश गंगारूप ओखलीमें धानोंकी भांति आपकी कीर्तियोंको कूटा तो उनके ढेरका हिमालय पहाड होगया और उसके किनके तारे होगये तथा उदय होतेहुए चंद्रमण्डलकी चिकनी चाँदनी उसकी धूलि होगई ॥ ८५ ॥

समुद्गतौ यत्समकालमेव यशःप्रतापौ तव पुष्पवन्तौ ।
रामारितापश्च मदश्च शेपस्त्वत्खङ्गतीर्थं तदनिष्टशान्त्यै ८६ ॥

जिस समय रावणका यश और प्रताप एकसाथ ही भलीभांति वढा और जिस समय रावणका धनुप और अहंकार अपार वृद्धिको प्राप्त हुआ—उस समय उस प्रलय होनेके अनिष्टको शान्त करनेके अर्थ तुह्मारे तलवाररूप तीर्थमें आश्रय ले सबके सब लीन होगये ॥ ८६ ॥

किंचित्कोपकलाविलासविभवव्यावल्गमूर्ते भुजो
निक्षेपादकरोन्निशाचरवलं प्रत्यर्थिनां यत्पुरः ।
क्रंदत्फेरु रटत्कफेरु विघटद्दारु स्फुटद्गुग्गुलु
प्रक्रीडत्कपिनिःश्वसत्फणिरटद्भिल्लिभ्रमद्द्वीपि च ॥ ८७ ॥

हे किंचित् क्रोधकी कलाके विलासरूपी वैभवसे अगाधमूर्ति श्रीरामजी ! जब आपकी भुजाओंने रावण और मेघनाद तथा राक्षसोंकी सेनाको नष्ट किया था तब गीदडोंकी स्त्रियें रोनेलगीं और कंकपक्षी बोलनेलगे, वृक्ष टूटनेलगे, राक्षसोंकी

अग्निये गूगलके धूपकी समान प्रज्वलित होनेलगीं, वन्दर नाचनेलगे, शेषजी शिर हिलानें और श्वास लेनेलगे राक्षसियें रोनेलगीं तथा गैंडे और चीते इधर उधर घूमनेलगे ॥ ८७ ॥

शैत्यं ज्ञानविकारिणो न हि भवेद्वृत्रद्रुहो वाहिनी
यैर्दृष्ट्वा रणलम्पटं भुजयुगं दृष्टं पुनस्तावकम् ।
यस्याश्रित्य बलं स्थलीकृतसरिन्नाथः प्लवङ्गेश्वरैः
क्रान्तो भूरिभयेन यत्र शिशिरा यस्यां मयूखा रवेः ॥ ८८ ॥

जिस इंद्रकी सेनाके प्रतापसे सूर्यकी किरणें भी ठंडी पडगई उस वृत्रासुरविनाशिनी इन्द्रकी सेना, श्रीरामचन्द्रजीसे अपने निधनको जाननेवाले रावणकी दोनों भुजाओंको देखकर शान्त होगई तदनन्तर शरणदाता आपके दोनो भुजदण्डोंको प्राप्त होकर कि जिन भुजाओंका आश्रय करके सुग्रीवादिक कपियोंने नदियोंके स्वामी समुद्रको सूखी पृथ्वी बनादिया—वह इन्द्रका जीतनेवाला रावण नष्ट होगया ॥ ८८ ॥

रामः-

प्रस्थाप्य तां वानरवीरसेनां तत्कालयोग्याभरणप्रदानैः ।
भुनक्ति राज्यं निजबन्धुवर्गैः समं ससीतः सहलक्ष्मणश्च ॥ ८९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने उस वीर वानरोंकी सेनाको समयके अनुसार वस्त्र आभूषण आदि दे विदा करके अपने कुटुम्बी तथा सीताजी और लक्ष्मणजीके साथ राज्यको भोगा ॥ ८९ ॥

रामो दाशरथिर्दिवाकरकुले तस्याङ्गना जानकी
नीता सा दशकन्धरेण वनतो लंकालयं छद्मना ।
रामेणापि कपीन्द्रसंगमवशादम्भोनिधिं लीलया
बद्ध्वा पर्वतमालया रिपुवशादानीय निर्वासिता ॥ ९० ॥

सूर्यकुलमें दशरथके पुत्र रामचन्द्र हुए और उनकी भार्या जानकी थी उस जानकीको वनमेंसे छलकर रावण लंकाको लेगया, तब श्रीरामचन्द्रजीने वानरपति सुग्रीवकी

सहायतासे लीला करके ही पर्वतोंकी पंक्तियोंसे समुद्रको बाँधकर शत्रुको नष्ट करके जानकीको लेलिया और फिर जानकीको वनवास दिया ॥ ९० ॥

तत्र त्यक्तसीतो लक्ष्मणो विलपति–

वने विमोक्तुं जनकस्य कन्यां श्रोतुं च तस्याः परिदेवितानि।
सुखेन लंकासमरे हतं मामजीवयन्मारुतिरात्तवैरः ॥ ९१ ॥

उस समय सीताजीको वनमें छोडकर लक्ष्मणजी विलाप करते हैं ॥

लंकाके संग्राममें सुखसे मरेहुवे मुझ लक्ष्मणको जो हनुमान्‌जीने जीवित किया सो बनमें जनकनन्दनी सीताजीके त्यागनेके और उसका विलाप सुननेके लिये जीवित करके मानो मुझसे किसी वैरका बदला चुकाया ॥ ९१ ॥

पशुरपि न मृगो मृगीं मृगेन्द्र-
ध्वनिचकितः प्रसवक्षणे जहाति ।
अयमरघुरजानकीयमावां
यदि न स जीवति निर्दयोऽद्य वेधाः ॥ ९२ ॥

सिंहके शब्दसे घबडाया हुआ भी हिरन बच्चा पैदा करनेके समय हिरनीको नहीं त्यागता है। सो क्या तो यह रामचन्द्रजी ही रघुवंशी नहीं हैं, या ये जानकीजी ही जानकी नहीं हैं और हम दोनोंमेंसे रामचन्द्रजी जीवित नहीं हैं तो आज ब्रह्माही सीताके वनवास देनेके कारण और रामको लोकान्तरमें पहुंचानेके कारण कठोर होगयाहै ॥९२॥

यद्भग्नं धनुरीश्वरस्य समरे यज्जामदग्न्यो जित-
स्त्यक्ता येन गुरोर्गिरा वसुमती सेतुः पयोधौ कृतः ।
एकैकं दशकन्धरक्षयकृतो रामस्य किं वर्ण्यते
दैवं वर्णय येन सोपि सहसा नीतः कथाशेषताम् ॥९३॥

जिन्होंने शिवजीका धनुप तोडा, समरमें परशुरामजीको जीता, पिताकी आज्ञासे पृथ्वीको त्यागा और समुद्रमें सेतु बाँधा, दशमुखविनाशी श्रीरामचन्द्रजीका एक २

कर्त्तव्य भी क्या वर्णन किया जासक्ता है ? दैव ही का वर्णन करना चाहिये, क्योंकि जिसने रामचन्द्रजीकी भी शीघ्रतासे (राम अवतार धार रावणको मार वैकुण्ठको प्रस्थान करा) ऐसी कथा मात्र ही शेष रखदी है ॥ ९३ ॥

रम्यं श्रीरामचन्द्रप्रबलभुजबृहत्ताण्डवं काण्डशौण्ड-
व्याप्तं ब्रह्माण्डभाण्डे रणशिरसि महानाटकं पाटवाब्धिम् ॥
पुण्यं भक्त्याञ्जनेयप्रविरचितमिदं यः शृणोति प्रसङ्गा-
न्मुक्तोऽसौ सर्वपापादरिभटविजयी रामवत्सङ्गरेषु ॥ ९४ ॥

श्रीरामचंद्रजीकी प्रचण्ड भुजाओंके बाणोंके समूहको निपुणतासे युक्त, सुंदर, पवित्र, भक्तिके साथ पवनतनय हनूमान्जी करके रचाहुआ, ब्रह्माण्डरूप पात्रके विषे बडेभारी रणमें चतुराईके सागर इस महानाटकके प्रसंगोंको सुननेवाला सब पापोंसे छूटकर समरभूमिमें रामचंद्रजीकी समान वीर वैरियोंको दमन करनेवाला होता है ॥ ९४ ॥

चतुर्दशभिरेवाङ्कैर्भुवनानि चतुर्दश ।
श्रीमहानाटकं धत्ते केवलं ब्रह्म निर्मलम् ॥ ९५ ॥

यह महानाटक चौदह अंकोंके सुननेसे चौदह भुवनोंको निर्मल निर्विशेष ब्रह्मसंज्ञक मुक्ति देता है ॥ ९५ ॥

रचितमनिलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाऽब्धौ
निहितममृतबुद्ध्या प्राङ् महानाटकं यत् ।
सुमतिनृपतिभोजे नोद्धृतं तत्क्रमेण
ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रदामोदरेण ॥ ९६ ॥

इति श्रीपवनतनयविरचितमिश्रदामोदरसंगृहीतहनु-
मन्नाटके श्रीरामविजयो नाम चतुर्दशोऽङ्कः
समाप्तः ॥ १४ ॥

पहिले पवनतनय हनूमान्‌जी करके रचाहुआ यह "महानाटक" अत्यन्त ही मनोहर है, इस बुद्धिसे श्रीवाल्मीकिजीने इसको श्रीहनुमान्‌जीकी प्रार्थना करके उनकी आज्ञासे समुद्रमें स्थापित करदिया, फिर सुमति श्रीराजा भोजने समुद्रमेंसे निकलवाया और मिश्र दामोदर करके क्रमसे इकट्ठा कियागया वही यह महानाटक सम्पूर्ण संसारकी रक्षा करे ॥ ९६ ॥

इति श्रीपवनतनयरचित–विद्वद्वरमिश्रदामोदरसंगृहीतहनुमन्नाटके मुरादाबाद-निवासि–भारद्वाजगोत्र–गौडवंश्य–श्रीपण्डित–भोलानाथात्मज–सनातनधर्मपताका–सम्पादक–ऋषिकुमारपण्डित–रामस्वरूपशर्म्मकृत–भाषाटीकायां रामविजयो नाम चतुर्दशोऽङ्कः समाप्तः ॥ १४ ॥

॥ समाप्तमिदं हनुमन्नाटकम् ॥

पुस्तक मिलनेका पता–

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस–बम्बई.